प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ
गगाशहर-भीनासर



प्रथम सस्करण—१००० (सन् १९८२)



मूल्य—सात रुपये पचास पैसे



मुद्रक :
जैन आर्ट प्रेस,
(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
समताभवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राजस्थान)
पि—३३४००१

अत' जब गंगाशहर–भीनासर मे परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा का चातुर्मास होना निश्चित हो गया तो 'श्री गगाशहर–भीनासर साधुमार्गी जैन श्रावक सघ' ने चातुर्मास की सुव्यवस्था हेतु अनेक प्रकार की समितिया बनाई, जिनमे से 'प्रवचन प्रकाशन समिति' भी एक थी । मुझे इस समिति का सयोजक बनाकर यह दायित्व सौपा गया कि परम पूज्य आचार्य श्री जी की पीयूष-वाणी का प्रसाद स्थानीय जनता के साथ ही सुदूर क्षेत्रो मे बैठे हुए धर्मनिष्ठ जनो तक भी पहुचाया जावे, जिससे अधिकाधिक लोग आचार्य श्री जी के वचनामृत का पानकर अपने जीवन को पुनीत और सात्विक बना सके । इस कठिन किन्तु पवित्र दायित्व की पूर्ति मे आत्मिक आनन्द हिलोरें ले रहा था । आचार्य श्री जी की वाणी को शीघ्रातिशीघ्र आप सभी तक पहुचाने के लिए 'समता के स्वर' ग्रन्थमाला का यह १६ वा पुष्प प्रकाशित किया गया है । इसी क्रम मे प्रथम पुस्तक 'मगल–वाणी' के नाम से गत वर्ष एव दूसरी पुस्तक 'जीवन और धर्म' के नाम से इस वर्ष प्रकाशित हो चुकी है । यह तीसरी पुस्तक आपके हाथो मे सौंपते हुए हमे सुखद गौरव का अनुभव हो रहा है । इसी क्रम मे चौथी एव पाचवी पुस्तक प्रकाशनाधीन है और आशा है कि उन्हे भी हम आपके हाथो मे शीघ्र ही सौंपने मे सफल होगे ।

इस सुअवसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दें कि इन प्रवचनो के प्रकाशन मुद्रण, या किसी अन्य प्रबन्ध मे परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा का कोई सम्बन्ध नही है । अत इस सकलन मे कोई भी शब्द या वाक्य सक्षेप मे आ गया हो अथवा मूल भाव से कही कोई अन्तर दिखाई दे तो इसके लिए हम ही उत्तरदायी है । गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है । उनके प्रकाशन, मुद्रण एव प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते है ।

स्वल्प समय मे ही श्री जैन आर्ट प्रेस ने इसका मुद्रण कर सुज्ञ पाठको के हाथो मे पहुचाने मे सहयोग दिया, एतदर्थ हम इनके आभारी है ।

विश्वास है यह पुस्तक आपकी आत्मोन्नति–मार्ग मे पथ–प्रदर्शक सिद्ध होगी ।

विनीत

चम्पालाल डागा

सयोजक, प्रवचन प्रकाशन समिति

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ

गगाशहर–भीनासर

अत: जब गंगाशहर–भीनासर में परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा. का चातुर्मास होना निश्चित हो गया तो 'श्री गगाशहर–भीनासर साधुमार्गी जैन श्रावक सघ' ने चातुर्मास की सुव्यवस्था हेतु अनेक प्रकार की समितिया बनाई, जिनमे से 'प्रवचन प्रकाशन समिति' भी एक थी। मुझे इस समिति का सयोजक बनाकर यह दायित्व सौपा गया कि परम पूज्य आचार्य श्री जी की पीयूष-वाणी का प्रसाद स्थानीय जनता के साथ ही सुदूर क्षेत्रो मे बैठे हुए धर्मनिष्ठ जनो तक भी पहुचाया जावे, जिससे अधिकाधिक लोग आचार्य श्री जी के वचनामृत का पानकर अपने जीवन को पुनीत और सात्विक बना सके। इस कठिन किन्तु पवित्र दायित्व की पूर्ति मे आत्मिक आनन्द हिलोरें ले रहा था। आचार्य श्री जी की वाणी को शीघ्रातिशीघ्र आप सभी तक पहुचाने के लिए 'समता के स्वर' ग्रन्थमाला का यह १६ वा पुष्प प्रकाशित किया गया है। इसी क्रम से प्रथम पुस्तक 'मगल–वाणी' के नाम से गत वर्ष एव दूसरी पुस्तक 'जीवन और धर्म' के नाम से इस वर्ष प्रकाशित हो चुकी है। यह तीसरी पुस्तक आपके हाथो मे सौंपते हुए हमे सुखद गौरव का अनुभव हो रहा है। इसी क्रम मे चौथी एव पाचवी पुस्तक प्रकाशनाधीन है और आशा है कि उन्हे भी हम आपके हाथो मे शीघ्र ही सौपने मे सफल होगे।

इस सुअवसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दे कि इन प्रवचनो के प्रकाशन मुद्रण, या किसी अन्य प्रबन्ध मे परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा का कोई सम्बन्ध नही है। अत इस सकलन मे कोई भी शब्द या वाक्य सक्षेप मे आ गया हो अथवा मूल भाव से कही कोई अन्तर दिखाई दे तो इसके लिए हम ही उत्तरदायी है। गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उनके प्रकाशन, मुद्रण एव प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

स्वल्प समय मे ही श्री जैन आर्ट प्रेस ने इसका मुद्रण कर सुज्ञ पाठको के हाथो मे पहुचाने मे सहयोग दिया, एतदर्थ हम इनके आभारी है।

विश्वास है यह पुस्तक आपकी आत्मोन्नति–मार्ग मे पथ–प्रदर्शक सिद्ध होगी।

विनीत
चम्पालाल डागा
सयोजक, प्रवचन प्रकाशन समिति
श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ
गगाशहर–भीनासर

सम्पादकीय वक्तव्य

समता के स्वरों का समरस-सगीत भला कौन नहीं सुनना चाहेगा ? उसके एक-एक स्वर से फूटने वाली ध्वनि मनुष्य की अन्तरात्मा का सुखद स्पर्श करती है। मानव की यह चिरकालीन कामना रही है कि उससे समग्र समाज में सबके लिए समता का स्तर ही सर्वमान्य स्तर बने। मानव-समाज गुणाधारित हो, अर्थाधारित नही, जैसा कि आज है।

दार्शनिकों और इतिहासवेत्ताओ ने मानवीय समता की अपने उदात्त विचारो एव तथ्यात्मक विश्लेषणो से सदा ही पुष्टि की है। जैन दर्शन मे समस्त आत्माओ को मूल मे सम-स्वरूपी माना गया है, चाहे वे ससारी हो या सिद्ध। कोई भी आत्मा जब अपनी गुणशीलता का सर्वोच्च विकास साध लेती है तो वही परमात्मा बन जाती है। परमात्मा किसी पृथक तत्व के रूप न सृष्टि को रचता है, न पालता है और न उसका सहार करता है। चेतन और जड तत्वो की सम्मिश्रित इस सृष्टि मे आत्मा ही अपनी नियति की स्वय कर्त्ता एव स्वय फल भोक्ता होती है। इसलिए वही समता की स्थापना भी कर सकती है। इतिहासवेत्ता भी यही कहते हैं कि आदिम काल से लेकर आज तक मानव-जाति ने जो विकास किया है, वह राजनैतिक, आर्थिक, मामाजिक आदि क्षेत्रो मे उसके समता-प्राप्ति के सघर्ष का पुनीत इतिहास है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म सा के प्रवचनो की भी यह परम विशिष्टता है कि उनमे सर्वत्र समता-दर्शन की झलक दिखाई देती है। प्रस्तुत सग्रह मे आपश्री के १६ प्रवचन सम्पादित रूप मे प्रकाशित किए जा रहे हैं। इनमे समता-दर्शन के साथ नैतिक-आध्यात्मिक रस की अमृत-धारा प्रवाहित है, जो मानव-जीवन को सार्थक बनाने हेतु प्रेरित करती है तथा मार्ग दर्शन भी करती है। यह अमृत-वाणी किसी एक देश, जाति अथवा सम्प्रदाय के लिए उपयोगी न होकर सार्वदेशिक एव सार्वकालिक सत्य से अनुप्राणित है।

एक परम प्रतापी वक्ता के रूप मे आचार्य श्री की प्रवचनात्मक अमृत-धारा जब प्रवाहित होती है तो वह श्रोताओ के हृदय को भावाभिभूत बना देती है। यह पाठको की अपनी अनुभूति होगी कि उन्हीं प्रवचनो मे मेरे द्वारा किए गए सम्पादन मे वे कितनी प्रभाव साम्यता पाते हैं ? वैसे मेरा सम्पूर्ण प्रयत्न

रहा है कि सम्पादन मे मैं अधिक से अधिक आचार्य श्री की ही मौलिक भाषा, भाव तथा शैली का निर्वाह करू । इस सम्पादित सकलन मे पाठको को जो श्रेष्ठता दृष्टि मे आवे, वह श्रेष्ठता निश्चित रूप से आचार्य श्री की प्रवचन-धारा की है किन्तु भाषा, भाव और शैली सम्बन्धी कहीं जो भी दोष दिखाई दे; उसका पूरा उत्तरदायित्व सम्पादक का है ।

मेरी हार्दिक कामना है कि पुस्तक के प्रवचनों से प्रवुद्ध पाठक प्रेरणा ग्रहण करके अपने जीवन को सफल वनावें ।

शान्तिचन्द्र मेहता

कुंभानगर चितौडगढ एम. ए., एल-एल. बी , एडवोकेट



समता विभूति, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक

चारित्र-चूड़ामणि, बालब्रह्मचारी

परम पूज्य आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

के

पावन चरण-कमलों

में

सादर-समर्पित

अनुक्रमणिका

अरिहन्त कैसे बनते हैं !

यह चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन परमात्मा की प्रार्थना है। अभिनन्दन स्वामी के भी अन्य तीर्थंकरो की तरह तीर्थंकर नाम-कर्म का उदय था। तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति जिस आत्मा के साथ सम्बन्धित हो जाती है, वह आत्मा तीर्थंकर पद को प्राप्त करके चतुर्विध सघ की स्थापना करती है। लेकिन कभी-कभी नाम के साथ भी उनका विशेप सम्पर्क जुड जाता है और वे नाम हृदयग्राही बनकर अन्य आत्माओ की जागृति करने मे निमित्त बन जाते हैं। अभिनन्दन भगवान् के नाम के प्रसग से कवि की जो विशिष्ट भावना अभि-व्यक्त हुई है, वह यह है कि परमात्मा के दर्शन किये जावें।

परमात्मा के दर्शन कैसे हो ?

परमात्मा के दर्शन करने की स्थिति से इस मनुष्य लोक मे, इस मनुष्य शरीर मे रहते हुए इन चर्म चक्षुओ से 'जिन' भगवान् के दर्शन नही हो सकेंगे। आप आश्चर्य करेंगे कि परमात्मा के दर्शन क्यो नहीं होंगे, इसका क्या कारण है ? वर्तमान मे जो मनुष्य का शरीर है, यह शरीर अपने समान शरीर को ही देख सकता है। आखों से भी वह ऐसे पुतले को देखता है और कानो से भी ऐसे समान-शरीर वाले व्यक्ति के शब्दो को ही सुनता है। स्पर्श भी वह इसी तरह करता है। इस शरीर की समानता की स्थिति से समान-रूप मे व्यक्ति चलता है। यह मानव जीवन की स्थिति है।

परन्तु परमात्मा मानव-शरीरी नहीं हैं। वे मानवातीत स्वरूप वाले होते है। वे मानव-जीवन से बहुत ऊचे हैं। परमात्मा को महामानव भी नही कह सकते है, क्योकि वे मानव-शरीर मे नहीं होते है। चू कि वे आत्मस्वरूपी बन जाते हैं और वह इसी आत्मा का परम स्वरूप होता है, इसीलिये वे परमात्मा कहलाते हैं। जब आठ कर्मों मे से चार घनघाती कर्मों का कोई आत्मा क्षय कर लेती है, तो वह आत्मा अरिहन्त हो जाती है। कर्म-अरियो का हनन करके अरिहन्त बनते हैं।

ये ससारी आत्माए किन से आवृत्त बनी हुई है? इनके मूल स्वरूप को कौन ढके हुए है? इनके लिये विकास की दृष्टि से कौन बाधक बन रहा है? ससारी आत्माए भी विकास साधना चाहती हैं, लेकिन उनका विकास हो क्यो नही पाता है? समय-समय पर होता हुआ विकास रुक क्यो जाता है? लगता है कि ऊपर उठ रहे है, सोचते हैं कि विकास का कार्य बनने वाला है, फिर भी सफलता के बीच मे बाधाए क्यो आ जाती हैं? ऐसी बाधाए आ जाती है, जिनका कोई बाहरी कारण नही दिखाई देता, लेकिन जो सहसा उपस्थित होकर सफलता से वचित कर देती हैं। यह सारा रूपक क्यो बनता है? यह बाहर से पैदा होता है अथवा भीतर से आता है? इसका अस्तित्व कहा है? जब तक मनुष्य इन सारी बातो का विज्ञान नहीं करता है, तब तक जीवन सम्बन्धी श्रेष्ठताओ से उसका निकट सम्पर्क नही बन पाता है और इन बाधाओ तथा आपत्तियो से बचने का अवसर नही आता है। यह विज्ञान ही आत्म-विज्ञान होता है, जो ज्ञान-चक्षुओ से समझा जा सकता है और तभी ज्ञान-चक्षुओ से ही आत्मदर्शन का प्रसग बनता है। यह जो आत्मदर्शन की स्थिति तक पहुचना होता है, वही वास्तव मे परमात्म-दर्शन होता है। यह परमात्मदर्शन चर्म-चक्षुओ से सभव नही होता है।

कर्म-रिपु और आत्मा :

आत्मदर्शन की भूमिका तैयार करनी है तो इस भूमिका को बिगाड़ने वाले प्रतिपक्षी अरियो (शत्रुओ) को समझ लेना चाहिये, क्योकि इन अरियो का हनन करने पर ही अरिहन्त पद के रूप मे आत्मदर्शन की भूमिका सुदृढ बन जाती है। इन शत्रुओ को समझ लें तो उनसे युद्ध करने की रणनीति भी समझ लेनी होगी, तभी उनके आक्रमणो मे आत्मा का बचाव किया जा सकेगा तो उन पर सफल आक्रमण भी किया जा सकेगा। इस दृष्टिकोण से जो आत्मा के अरि हैं, वे हैं आठ प्रकार के कर्म। वे आत्मा के साथ सलग्न होकर इसके विकास के बाधक बने हुए हैं।

आत्मा की शक्ति बहुत विशाल होती है। आत्मा संसार के सारे पदार्थों का ज्ञान कर सकती है। इतनी व्यापक क्षमता और योग्यता इस आत्मा मे होती है। वह क्षमता और योग्यता सभी आत्माओं में हैं और आपकी आत्मा मे भी है, लेकिन क्या आप उस क्षमता और योग्यता को प्रकट कर पा रहे हैं ? और यदि नहीं कर पा रहे हैं तो क्यों नही कर पा रहे हैं ? इस-लिये कि आपकी आत्मा के पीछे भी दुश्मन पड़े हुए हैं। वे दुश्मन आठ तरह के कर्म हैं।

इन आठ कर्मों का स्वरूप जानने की अपेक्षा से आप जानते हैं— ज्ञान-शक्ति को ढकने वाला होता है ज्ञानावरणीय कर्म, जिससे ज्ञानार्जन में बाधाए आती हैं। आत्मा समग्र पदार्थों को सामूहिक रूप से देख सकती है; लेकिन देखने की शक्ति को रोकने वाला दर्शनावरणीय कर्म होता है। यह आत्मा सदा-सदा सुख का अनुभव कर सकती है, किन्तु इस सुखानुभव का बाधक वेदनीय कर्म होता है। आत्मा का मूल स्वरूप दर्पण से भी अधिक उज्ज्वल होता है लेकिन वह मलिन बना हुआ है, मोह कर्म के कुप्रभाव से, जो उसको स्वच्छ बनाने मे बाधक बना हुआ है। आयुष्य कर्म आत्मा को शरीर के साथ रोके रखता है—उसे अशरीरी नहीं बनने देता है। शरीर की अच्छी या बुरी रचना करने वाला नाम कर्म होता है तथा ऊंचे या नीचे स्थान का सम्बोधन कराने वाला गोत्र कर्म होता है। आत्मा मे जो कुछ भी शक्ति का सचय मिलने वाला होता है, उसमे अन्तराय कर्म बाधा डाल देता है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म आठो कर्मो मे से विशेष रूप से भयानक होते हैं। इसी कारण इन चार कर्मों को घनघाती कर्म कहते हैं। इन चार घनघाती कर्मों को प्रमुख शत्रु समझकर अगर पहले नष्टकर देते हैं तो बाकी के चार कर्म फिर सहज ही मे नष्ट हो जाते हैं। चार घनघाती कर्मो के नष्ट हो जाने पर अरिहन्त पद की प्राप्ति हो जाती है। यही से आत्मा परमात्मा-स्वरूप को वरण करने के लिये अग्रसर बन जाती है। फिर परमात्मा के दर्शन करने मे कोई भी बाधा नही रहती है।

यह आत्म-दर्शन की भूमिका होती है और इस भूमिका की पुष्टि कर्मो के आवरणो को इस रूप मे हटाने पर हो पाती है। कर्मो के आवरणो का यह रूपक इस दृष्टि से ज्ञेय है। ये कर्म आत्मा के शत्रु हैं—अरि-दल हैं जिन्हे पूर्णतया परास्त करके ही आत्मा अपने मूल स्वरूप का दर्शन कर पाती है।

अरिहन्त किन्हें कहते हैं—

जो आत्माए इन चार घनघाती कर्मों को सर्वथा नष्ट कर देती हैं, वे समग्र पदार्थों को उनके सामान्य तथा विशेष रूपो मे देख लेती हैं। मोह कर्म को नष्ट कर देने से वे अनन्त आन्तरिक सुख का अनुभव भी करने लग जाती हैं तो अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से उनकी समग्र शक्तिया प्रकट हो जाती हैं। वे आत्माए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्तियो की धनी बन जाती है। इन चार प्रमुख अरियो को जो आत्माए हनन कर देती है और छोटे चार अरि (अघाती कर्म) जीतने जिनके शेष रह जाते है, वे आत्माए अरिहन्त या केवली नाम से सम्बोधित की जाती है।

नमस्कार मत्र तो आप जानते हैं न ? उसमे सबसे पहले किसको नमस्कार किया जाता है ? पहला पद है—णमो अरिहन्ताण अर्थात् जिन्होंने अपने आत्म-अरियो का हनन कर दिया है, उन महान् विभूतियो को सबसे पहले नमस्कार। वे आत्म-अरि कौनसे ? वे ही चार, जो घनघाती कर्म कहलाते हैं। यदि ऐसी आत्मा के तीर्थंकर नाम कर्म का उदय हो तो वह आत्मा तीर्थंकर पद को प्राप्त करती है तथा चतुर्विध सघ की स्थापना करती है। उनकी सहायता से ससार को कल्याण का श्रेष्ठतम मार्ग उपलब्ध होता है। वह वीतराग मार्ग सबके लिये श्रेयकारी होता है। उस मार्ग का जो भी व्यक्ति अनुसरण करता है वह सब बाधाओ से मुक्त होकर सदा-सदा के लिये परमसुखी बन सकता है। वह भी परमात्म-स्वरूप का वरण कर लेता है।

इस मानव-शरीर मे रहते हुए जो आत्माए चार घनघाती कर्मों को नष्ट कर देती है, वे परमात्मा के दर्शन के योग्य बन जाती हैं, आत्म-दर्शन कर लेती हैं तथा सिद्ध भगवान् का दर्शन करती है और ससार की समस्त आत्माओ एव सारे पदार्थों को भी हस्तामलकवत् देखती हैं। लेकिन आठ कर्मों मे से चार कर्म उनके जो बाकी रहते हैं, उनके कारण वे सशरीरी होती हैं। नाम-कर्म से शरीर की आकृति रहेगी, उच्च गोत्र कर्म रहेगा, आयुष्य कर्म से शरीर का टिकाव होगा और साता-असाता वेदनीय कर्म का प्रसग भी उनके साथ लगा रहेगा। किन्तु ये चार कर्म परमात्मा के दर्शन मे बाधक नही बनते हैं। इनके रहते हुए भी सिद्ध भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। अरिहत के दर्शन करते ही हैं।

अरिहत भगवान् की तुलना मे ससारी आत्मा बहुत नीचे है क्योंकि

उसके साथ तो ये चार कर्म तथा चार घनघाती कर्म-आठों ही लगे हुए है इसलिये उस को परमात्मा-के पूरे दर्शन नही होते हैं। लेकिन आत्म-विकास की ओर बढने की अभिलाषा रखने वाली भव्य आत्माए वीतराग प्रभु के मार्ग को तो भलीभांति समझ सकती हैं तथा निष्ठापूर्वक उसका अनुसरण कर सकती हैं। ऐसी आत्माओ को अरिहन्त का मार्ग-निर्देशन मिल जाय तो वह सोने में सुहागा हो जाता है। कारण, अरिहन्त भगवान् धर्म-देशनाओ के माध्यम से लोकोपकार मे प्रवृत्त होते हैं। प्रभु महावीर जब अरिहन्त पद से विभूषित थे, तब गौतम स्वामी जैसे गणधर उनके पट्टशिष्य थे और उनकी सेवा करते थे। गौतम स्वामी भी कम नही थे, वे भी चार प्रकार के ज्ञान एव चौदह पूर्व के ज्ञान के धारक थे और कई लब्धियो के भडार थे। अरिहन्तो का मार्ग-दर्शन भव्य आत्माओ को भव्यतम स्वरूप प्रदान करवा देता है।

'नहु जिणे अज्ज दिस्सई'

गौतम स्वामी जब अरिहन्त महावीर की उपासना कर रहे थे तो उन्होने कहा—

नहु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
सपई नेयाउए पहे, समय गोयम, मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १०।गा।३१

हे गौतम, आज तुम्हें जिन भगवान् के दर्शन नही हो रहे हैं। क्या कहा भगवान् ने ? क्या असत्य कहा ? भगवान् स्वय गौतम स्वामी के सामने विराजमान थे और वे ही उनसे कह रहे हैं कि तुम्हे जिन भगवान् के दर्शन नही हो रहे हैं। तो क्या यह बात सही थी ? भगवान् कभी असत्य वचन का उच्चारण नही करते। उन्होंने जो कहा, वह पूर्ण सत्य था। मनुष्य की समझ भले ही असत्य हो सकती है, वह पूर्ण सत्य को न समझ कर अधूरे सत्य को ही पूर्ण सत्य मान बैठता है तो वह अधूरी समझ बडी खतरनाक हो जाती है। तर्कवादी तर्क लगा सकते हैं कि यह कैसी बात भगवान् ने कही, जबकि वे स्वय जिन भगवान् के रूप मे गौतम स्वामी के सामने विराजमान थे ? तो इसमे यह हो सकता है कि या तो महावीर 'जिन' नही थे या उन्होंने सत्य नही कहा। समझने की बात यह है कि भगवान् ने 'नहु जिणे अज्ज दिस्सई' क्यों कहा ?

भगवान् महावीर ने यह जो कथन किया, इसको नय की अपेक्षा से

समझने की जरूरत है । नय सात बताये गये हैं । इन नयों की अपेक्षा से जो भगवान् के कथन को समझते हैं, वे भगवान् की वाणी को निष्ठापूर्वक अंगीकार कर सकते हैं । उपर्युक्त कथन के विषय मे भगवान् का प्रतिपादन यह था कि गौतम, तुम्हारे अन्दर अवधिज्ञान भी है, मति श्रुति ज्ञान तो पूरा है ही और मन पर्यय ज्ञान भी है । मन के भावो को पाचो इन्द्रियो तथा मन का प्रयोग नही करते हुए भी आत्म-साक्षात्कार से हजारो कोसो की दूरी पर रहने वाले रूपी पदार्थों को भी तुम देख सकते हो । यह शक्ति तुम्हारे अन्दर है लेकिन इसके बावजूद तुम 'जिन' को नही देख सकते हो, क्योकि 'जिन' का स्वरूप अरूपी होता है ।

इस रूप मे भगवान् ने कहा—गौतम, तुम मुझे नही देख सकते हो याने कि मेरी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नही देख सकते हो । अपने चार ज्ञानो के साथ भी 'जिन' स्वरूप तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि मे नही आता है, क्योकि वह स्वरूप शरीर से ऊपर तथा शरीर से परे है । जिस दिन तुम स्वय 'जिन' बनोगे और चारो घनघाती कर्मों को नष्ट कर दोगे, उसी दिन तुम मेरे स्वरूप को भी देख पाओगे । आज तुम मेरे बताये हुए मार्ग को बोधगम्य शरीर से देख रहे हो । वह दिखाई देता है, उसको देखने मे समय मात्र का भी प्रमाद मत करो । जो समय मात्र का भी प्रमाद करता है, वह अपने जीवन मे भटकता है तथा विकास नही कर पाता है ।

अप्पा से परमप्पा--

आप लोगो के मन मे क्या है ?क्या आप भी अभिनन्दन परमात्मा के दर्शन करने के इच्छुक हैं ? आप शायद सोच नही पा रहे हैं, अपने आपमे न मालूम कैसा महसूस कर रहे हैं ? आपके मन मे आता होगा कि दर्शन की इच्छा तो हमारी है, लेकिन कहा देख पा रहे हैं ? आप सोचिये कि क्यों नही देख पा रहे है ? कारण, आप पुरुपार्थ नही करते और भगवान् के बताये हुए रास्ते पर चलने के लिये अपने आपको तैयार नही करते । बार-बार प्रेरणा देने की आवश्यकता महसूस मत करिये । जो व्यक्ति अपने को ठीक करने के लिये तत्पर है, जैसी भी अवस्था हो, उस अवस्था के साथ रहने वाले कर्त्तव्यो का पालन किसी को बिना पूछे अपने अंदर की प्रेरणा से करता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ गिना जाता है ।

जैसे साधु का जीवन है तो इस जीवन के लिये भगवान् ने जिन महाव्रतो तथा मर्यादाओ के पालन का निर्देश दिया है, उसका पालन करने से

ही साधु-जीवन मे श्रेष्ठता का निर्माण किया जा सकता है । भगवान् का कथन है कि चाहे दिन हो या रात्रि, जिन महाव्रतो को अगीकार करके चल रहे हो, उन महाव्रतो का भलीभाति पालन करो । जिस वक्त रात्रि हो और यह सोच रहे हो कि रात्रि मे सब सोये हुए हैं, मुझे कोई देखने वाला नहीं है-इस भावना को लेकर कर्त्तव्य को मत छोडो । चाहे सबके बीच मे बैठे हुए हो तो भी नियमो का पालन करें तथा एकाकी हो तब भी उसी रूप मे उनका पालन करें । नियम-पालन की स्थिति मे कहीं पर भी स्खलन न आने दें ।

जो भी अपने-अपने स्तर पर अपने व्रत, नियम तथा कर्त्तव्य का पालन करता है, वह महावीर शासन की परम्परा मे चलने वाले आचार्य के अनुशासन का वीरतापूर्वक पालन करता है । मर्यादा-पालन मे लुका-छिपी नही होनी चाहिये । सारी निर्धारित दिनचर्या के अनुसार जीवन का क्रम चलना चाहिये, जिसमे प्रार्थना, प्रतिक्रमण, गुरुवन्दन, ज्ञानाराधना, तपस्या, चिंतन-मनन आदि सबको सम्मिलित करें । महावीर ने कहा है कि ऐसी नियमित दिनचर्या और शासनपद्धति मे चलने वाले शिष्य विनीत ज्ञात होते हैं । ऐसे शिष्यो को आकीर्ण जाति के घोडो की उपमा दी गई है, जो स्वामी के चाबुक को उठने ही नही देते हैं याने कि पूर्णतया स्वामी के अनुशासन मे चलते हैं । ऐसे शिष्य गुरु के कहने की भी अपेक्षा नही करते हैं । वे उनका अभिप्राय समझ कर ही कार्य कर लेते हैं ।

व्रत, नियम, कर्त्तव्य और मर्यादा-पालन के इसी विन्दु से ऊपर उठ कर जो आत्मा कर्मो की निजरा करते हुए चार घनघाती कर्मो का क्षय कर लेती है, वह अरिहन्त बन जाती है । अरिहन्त बनने का मार्ग किसी आत्मा के लिये बन्द नही है । ध्यान रखिये कि आप पूरी निष्ठा से पुरुषार्थ करेंगे तथा वीतराग देव के मार्ग पर कर्मठतापूर्वक चलेंगे तो आप भी घनघाती कर्मों को नष्ट कर सकेंगे । यदि आपने अपनी आत्मा के इन चारों अरियो का हनन कर लिया तो आप भी अरिहन्त बन जाएगे और परमात्मा का दर्शन कर सकेंगे ।

साधुओ व श्रावकों के कर्त्तव्य—

कर्म रूपी अरियो याने शत्रुओं के हनन में ही आत्मा की विजयश्री रही हुई है और इसी लक्ष्य को सामने रखकर साधुओ व श्रावकों को अपने कर्त्तव्यों का आस्थापूर्वक पालन करना चाहिये । शास्त्रकारो ने शिष्यो की श्रेणियो के सम्बन्ध मे कहा है कि—

मरगलियस्सेव सं वयणमिच्छे पुणो–पुणो ।
कस्स वा दट्ठूण माइण्णे पावग परिवज्जए ॥

भगवान् महावीर ने घोषणा की थी कि गलियारे दुबले–पतले घोडे, जो ढीठ होते हैं, वे सवार के द्वारा चाबुक चलाने पर ही चलते हैं, चाबुक नही मारे तो अड जाते हैं और बार-बार चाबुक खाने पर ही चलते हैं। इस जाति के घोडो की तरह शासन मे रहने वाले साधको की स्थिति नही बननी चाहिये । उनको स्वय अपने कर्त्तव्य का खयाल करना चाहिये और एक वक्त ज्ञान होने के बाद कभी आकुलता नही लानी चाहिये । जो आकीर्ण घोडो की तरह चलता है, वह शिष्य अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए परमात्म-दर्शन कर सकता है ।

यह साधु और शिष्य की स्थिति का वर्णन आपके समक्ष रखा । आप भी क्या साधु के शिष्य नही हैं ? आप साधुरूप शिष्य नही हैं, लेकिन श्रावक शिष्य तो हैं ही । आप भी अपने कर्त्तव्यो को देखें । श्रावक के क्या कर्त्तव्य होते है ? उनकी दिनचर्या क्या होनी चाहिये ? इसकी जानकारी लें और अपने जीवन मे नियमितता लावें । प्रात उठते ही पच परमेष्ठि का ध्यान करें और आत्मालोचना या कर्त्तव्यो का स्मरण करें । लौकिक कार्यों मे भी नैतिकता का पालन करें तो धार्मिक क्रियाओ मे भी पीछे न रहे । जिस किसी क्षेत्र मे आप कार्य करें, उसमे निष्ठा और ईमानदारी का अभाव नही होना चाहिये । ऐसा श्रावक भी हर क्षेत्र मे विजयी बनता है और अपने साहसी जीवन से दूसरो को भी अमित प्रेरणा देता है ।

साधु और श्रावक अपने कर्त्तव्यो का यथोचित रीति से पालन करते हैं तो कर्म रूपी अरियो के हनन मे भी वे अपने अनुपम शौर्य्य का प्रदर्शन कर सकते है । कर्म रूप और विशेष रूप से घनघाती कर्मरूप अरियो का हनन वे ही कर सकते हैं, जो साहसी और पुरुषार्थी होते हैं । युद्ध मे कौन लड सकता है ? वीर या कायर ? वीर ही युद्ध में लड सकता है और विजय प्राप्त कर सकता है । वैसे ही यह आत्म–युद्ध भी वीरता से ही लडा जा सकता है । आत्मा अपने कर्म–शत्रुओ से लडती है और उनका हनन करती है, तभी वह अरिहन्त बनती है, वीर आत्मा कहलाती है । यह युद्ध तीर, तलवारो या बम रॉकेटो से लडा जाने वाला नही होता है । यह भीतरी युद्ध होता है, जो कर्त्तव्य पालन के रूप मे लडा जाता है, जिससे कर्मों की निर्जरा होती है और यह कर्मो की निर्जरा ही कर्मो से मुक्ति दिलाती है । यही वीर तत्त्व है—यही अरिहन्तता है ।

मर्यादाओं का पालन आवश्यक

जो अपने कर्त्तव्य तथा अपनी मर्यादाओ के पालन के प्रति दृढीभूत हो जाता है और किसी भी सकट के सामने उससे विचलित नहीं होता है, वह अपने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् क्रिया के आधार पर अरिहन्तता की दिशा में अवश्य ही अग्रसर बनता है।

यहां तक कि बुरे क्षेत्र मे भी साहस के साथ निर्धारित कर्त्तव्य का पालन करने वाला अपने दु साहस की छाप छोड देता है। एक चोर का प्रसग याद आ गया है। एक चोर चोरी करने मे वडा सावधान तथा चतुर था। वह एक दिन विश्वास के साथ राजा के भडार मे चोरी करने के लिये पहुच गया। यह उसके साहस की बात थी कि उसने वडे ठिकाने पर हाथ डालने का विचार किया। वहा पहुच कर उसने चोरी करली और जैसे ही वहा से निकलने लगा, राजा की दृष्टि उस पर पड गई। राजा ने जल्दी का मामला देखकर एकदम चोर के पीछे खुद ही दौड लगाई। राजा को भागते देखकर सिपाही भी भागने लगे। लेकिन चोर बहुत जोर से भाग रहा था। अब सैनिक और घुडसवार भी पीछे दौडने लगे। तव चोर ने सोचा पकडा जाऊ गा तो जरूर ही मारा जाऊ गा। जव मरना ही है तो एक प्रयोग तो कर लू ।

यह सोचकर दौडते-दौडते चोर ने गिरने का कुछ ऐसा नाटक किया और सास रोककर पट गया- जिससे यह मालूम पडने लगा कि चोर तो गिर कर मर गया है। कुछ ऐसी यौगिक क्रिया वह चोर जानता था कि जिससे नाडी-सचरण भी वन्द प्रतीत होने लगा। राजा उसके पास पहुचा, दूसरे लोग भी पहुचे। समझ मे आया कि वह तो मर गया है। सिपाही फिर भी नहीं माने, उन्होने उस चोर की खूब पिटाई की। तव भी वह हिला-डुला नही किंतु पिटाई से उसके शरीर से खून वहने लगा तो राजा ने सोचा कि चोर मरा तो नही है, वरना खून कैसे निकलता ?

राजा अनुभवी था। उसने अपने अनुचर से कहा कि उसके कान मे जाकर कहो—राजा ने तुम्हारा अपराध माफ कर दिया है, तुम उठ जाओ। यह वात सुनते ही चोर ने अपनी क्रिया समेट ली और उठ खडा हुआ। राजा ने चोर से यह सारी क्रिया समझी तथा उसके मन का हाल भी जाना। राजा की इस उदारता से चोर का हृदय वदल गया और उसने हमेशा के लिये चोरी का धधा छोडने की प्रतिज्ञा कर ली।

कहने का तात्पर्य यह है कि चोरी करने वाला महान् अनैतिक धधा

करता है, लेकिन जिस वक्त जैसा कर्त्तव्य होता है, उसका पालन ईमानदारी से करता है तो ऐसा पतित व्यक्ति भी यथासमय रास्ते पर लाया जा सकता है और वह अपने जीवन का विकास कर सकता है क्योंकि उसकी सारी बुराई मे भी एक यह जो अच्छाई होती है कि मर्यादाओ का वह पालन करता है तो यह अकेली अच्छाई वक्त आने पर उसकी सारी बुराई को समाप्त कर देती है। मर्यादाओ के पालन की शक्ति पतित व्यक्ति को ऊपर ही नही उठाती, बल्कि उसको परम पावन बनाकर अरिहन्तता की ओर गतिशील भी बना देती है।

कर्म-रिपु पर आत्म-विजय—

अकेली आत्मा एक ओर तो दूसरी ओर आठो कर्म अपना मोर्चा ताने हुए रहते हैं, जिनमे से चार घनघाती कर्म तो महाबली होते हैं। इनका भी मोहनीय कर्म सेनापति होता है। ये कर्म अपने मारक शस्त्रो का प्रयोग आत्मा पर करते है, उसकी इन्द्रियो को प्रलुब्ध तो उसके मन को चलायमान बनाते हैं। आत्मा को बडी दृढता से उनका सामना करना पडता है तथा अपने मन पर कठोर नियत्रण करना होता है ताकि शरीर और इन्द्रिया भी आत्मा के अनुशासन मे चलें। फिर आत्मा कठोर चरित्र का अनुसरण करती है तथा तपाराधन द्वारा कर्म समूहों पर आक्रमण करती है। तपस्या की कठोरता, भावनाओ की दृढता एव मन की साहसिकता के आगे कर्मों के दल मे भगदड मच जाती है। आत्मा का घातक प्रहार पहले मोहनीय कर्म पर होता है और उसका शस्त्र होता है समता का शस्त्र। समता के आगे मोह पराजित हो जाता है तथा मोह की पराजय के साथ ही अन्य तीन घनघाती कर्मों के पैर भी छूटने लग जाते हैं। आत्मा अपने साहस और पुरुषार्थ का कठिन बल लगाती है और चारो घनघाती कर्मों को धराशायी कर देती है। इस तरह आत्मा जब इस धर्मयुद्ध को जीत लेती हैं, तो वह अरिहन्त बन जाती है, केवल ज्ञान प्राप्त कर लेती है तथा परमात्मा का दर्शन करने मे सक्षम हो जाती है।

आत्मा से परमात्मा की ओर—

आप चिंतन करिये कि परमात्मा के दर्शन करने की अभिलाषा रखने से पहले अपनी ही आत्मा के दर्शन करने का प्रयास करें। अपनी आत्मा के दर्शन तभी होते हैं, जब कर्मों के साथ धर्मयुद्ध मे विजयश्री प्राप्त कर लेते हैं। जिसने अपना आत्मदर्शन कर लिया, वह परमात्म-स्वरूप के दर्शन भी अवश्य कर लेगा। जब तक अपने आपको नही देख सकेंगे, तब तक परमात्मा को भी नही देख पायेंगे। यह शाश्वत सत्य है कि आत्मदर्शन ही परमात्म-दर्शन होता है।

गगाशहर-भीनासर दि २५-७-१९७७

"मैं कौन हूं"

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये सहु थापे अहमेव ।।

परमात्मा के परम पवित्र स्वरूप के दर्शन की प्रत्येक भव्य आत्मा अभिलाषा रखती है और जब ऐसी अभिलाषा बनती है तो उस स्वरूप का निर्णय अवश्य ले लेना चाहिये कि वह स्वरूप कैसा है और अभिलाषिणी आत्मा का स्वरूप कैसा है ? प्रमुख बात यह है कि यदि आत्मा ही अपने स्वरूप को पहिचान ले तो परमात्म स्वरूप को हृदयगम करने मे अधिक कठिनाई नहीं रहती है । इसलिये इसका निर्णय पहले लेना जरूरी है कि "मैं कौन हू ?", मैं आत्मा हू या शरीर ? तथा यदि मैं आत्मा हू तो मेरा स्वरूप क्या है, कैसा है और वह परमात्म स्वरूप से किन अशो मे मेल खाता है ?

ज्ञानीजन प्रत्येक तत्त्व अथवा वस्तु स्वरूप का निर्णय करने के पक्ष मे रहते हैं । किसी भी वस्तु की उपलब्धि या प्राप्ति करने के पहले उस वस्तु की जांच करने अथवा उस वस्तु के स्वरूप का विज्ञान करने की वे जिज्ञासा लेकर चलते हैं । वे सोचते हैं कि यह वस्तु किस रूप में है और इसका हमारे लिये क्या उपयोग है ? उसकी परिवार, समाज तथा राष्ट्र के लिये भी क्या आवश्यकता है ? उन उपयोगिता एव आवश्यकता को वे समझ लेते हैं, तभी उसे ग्रहण करने की वृत्ति बनाते हैं ।

साधारण व्यक्ति भी जब साधारण वस्तु के लिये पहले किसी निर्णय पर पहुंच कर ही उसे ग्रहण करने का यत्न करता है तो जब वस्तु असाधारण हो तब तो उसके स्वरूप को गहराई से समझना तथा उसके सम्बन्ध में निर्णय लेना समुचित रहता है ।

ज्ञान की निर्णायक शक्ति :

जो विशिष्ट ज्ञानी होते हैं और जिनके ज्ञान का स्वरूप सिर्फ बाहरी वस्तुओ तक ही सीमित नही होता है एव जिनकी दृष्टि शरीर के अलावा बाहर दिखाई देने वाले पदार्थों तक ही रुकी हुई नहीं रहती है, वे इस शरीर पिंड के भीतर मे प्रवेश करने की क्षमता रखते हैं तथा अन्तरावलोकन करते हुए आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध मे समुचित निर्णय प्रकट करते हैं। वे ज्ञान के निर्णायक पक्ष मे पहुचने के लिये शरीर विज्ञान का भी विशेष ख्याल करते हैं और मूलत चिंतन के क्षणो मे गहरे उतरते हैं, उस समय उनको दर्शन की पिपासा प्रतीत होती है जिसके अनुसार वे आत्मावलोकन से आत्मदर्शन की अवस्था तक पहुचने का प्रयास करते हैं।

परमात्म-दर्शन मुख्य रूप से आत्मदर्शन ही होता है और जो आत्म-दर्शन करने के लिये तत्पर बनता है, वह अपनी आत्मा का अपनी आन्तरिकता का अवलोकन करने तथा करते रहने का अपना अभ्यास बनाता है। यही अवलोकन का अभ्यास आत्मदर्शन की अवस्था तक पहुचाता है। जब कोई अपना आत्मदर्शन करने मे समर्थ बनता है तो आत्मा के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं वे उसकी दृष्टि मे निर्णीत हो जाते हैं। ऐसी निर्णय बुद्धि के परिपक्व बन जाने के बाद ही यह निर्णय किया जा सकता है कि कौनसा पदार्थ ग्रहण करने लायक है तो कौनसा पदार्थ छोडने लायक ?

जब मनुष्य इस भावना से चलता है तो पहले वह अपनी शक्ति को टटोलता है, उसकी खोज करता है तथा उसके प्रति असावधान नही बनता है। किन्तु ऐसे विवेकशील पुरुष विरले ही मिलते हैं। अधिकाश व्यक्ति स्वय की स्थिति का ज्ञान कम रखते है। उनका ध्यान प्रमुख रूप से बाहर की परिस्थितियो मे ही उलझा हुआ रहता है। साधारण वस्तुओ का उन्हे साधारण ज्ञान ही होता है, फिर भी ऐसे लोग यह समझ लेते हैं कि उनका ज्ञान बहुत ऊंचा है। जबकि वास्तव मे उनका साधारण ज्ञान कितना ही ऊचा क्यो न हो, वह अधूरा ज्ञान ही कहलायगा। कारण उनको अपने स्वय के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई ज्ञान नही होता। आत्म ज्ञान का अभाव मनुष्य की वास्तविक प्रगति को अवरुद्ध बना देता है। जिसको स्वय का ज्ञान नही, वह बहुत कुछ बाहर का ज्ञान एकत्रित कर ले, फिर भी उसे सम्यक् ज्ञानी की सज्ञा नहीं दी जा-सकेगी, क्योंकि उसके ज्ञान मे निर्णायक शक्ति का निर्माण नही होगा।

ज्ञान की निर्णायक शक्ति की सहायता से अपने आत्मस्वरूप की प्रतीति

होती है , उसके अवलोकन का अभ्यास होता है, जिससे दर्शन की साधना में धृत्तियो एव प्रवृत्तियो की एकाग्रता बनती है ।

ज्ञान से निर्णायक शक्ति का निर्माण :

एक तो ज्ञान होता है दृश्य पदार्थों तथा बाहर के वातावरण का— जिसे स्थूल ज्ञान कह सकते हैं, लेकिन ज्ञान की गहराई अथवा सूक्ष्मता वहा होती है, जब मूल तत्त्व आत्मा के सम्बन्ध मे चिन्तन एव अनुभूति करने की समर्थता पैदा होती है । यह समर्थता जितनी मजबूत होती है, उतनी ही स्पष्ट निर्णायक शक्ति का निर्माण होता है । ज्ञान की ऐसी आन्तरिकता जब तक पैदा नहीं होती है तब तक ज्ञान का वास्तविक विकास भी नहीं हो पाता है ।

इगलैंड, अमेरिका, रूस, जापान आदि देशों मे क्या हो रहा है ? वहां के लोग क्या कर रहे हैं ? इस की जानकारी बहुतेरे लोगों को होगी, लेकिन वे ही लोग यह नही जानते होंगे कि उनके परिवार के सदस्य क्या कर रहे हैं और उनका जीवन विकास ठीक ढग से हो रहा है या नही ? यह निर्णय करने का ज्ञान कितने लोगों मे है कि अपनी सन्तान को किस रास्ते पर चलावें जिससे उनके जीवन का स्वस्थ विकास हो सके। अधिकतर लोग बाहरी वस्तुओ के देखने मे ही बडे कुशल बन जाते हैं । सामान्य लौकिक विज्ञान की पुस्तकें पढ लेते हैं—अखबार देख लेते हैं और समझ लेते हैं कि उनको ज्ञान प्राप्त हो गया । अखबार देखने की तो कई लोगो की व्यसन जैसी आदत हो जाती है । उन्हे आत्मा—परमात्मा व प्रार्थना का ख्याल नहीं रहेगा, बल्कि भोजन करना भी छोड़कर पहले वे अखबार देखने की चेष्टा करते हैं । उनका ध्यान इस ओर नही जाता कि वे अपने आपको देखें और अपनी आत्मा के स्वरूप को पहिचानें ।

इस शरीर पिंड मे आत्मा नाम का तत्त्व है जो सर्व कर्म के नष्ट होने पर शरीर से अलग भी हो जाता है, उस आत्मा के बिना शरीर का कोई सचालन नही होता । जब तक आत्म तत्त्व शरीर के साथ मे रहता है तब तक ही शरीर का जीवन बना रहता है । आत्मा है तो शरीर हिलता—डुलता है, खाता—पीता है, हसता—रोता है या अन्य प्रकार की सारी प्रक्रियाए करता है । शरीर से आत्मा चले जाने पर वह शरीर निरर्थक और निष्क्रिय हो जाता है, जिसे मृत शरीर या लाश कहते हैं । तो इससे यह निर्णय हुआ कि इस शरीर पिंड मे रहने वाली आत्मा बहुत बडी वैज्ञानिक होती है जिसको जानना चाहिये, जिसके स्वरूप को समझना चाहिये तथा जिसकी मूल शक्तियों

को प्रकट करने का प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। इस रूप मे ज्ञान एवं निर्णय की गम्भीरता मे उतर कर वस्तु स्वरूप की यथार्थ पहिचान करने की योग्यता प्राप्त होती है।

आत्मिक स्वरूप को पहचानो :

मनुष्य प्रारम्भिक दृष्टि से इस तरह सोचने की चेष्टा करे कि मैं मूल शक्ति रूप आत्मा को पहिचानू और यह भी निर्णय करू कि इस शरीर पिंड की स्थिति क्या है—उसके अवयवो की स्थिति क्या है ? यह इतनी सुन्दर रचना कैसे बनी ? मनुष्य की ऐसी आकृति, त्वचाओ के कई स्तर, उसकी इन्द्रियो की प्रक्रियाए किस कारण से हैं ? ऊपर से दूध पीते हैं या अन्य पदार्थ खाते हैं, लेकिन अन्दर जाने के बाद उनके पाचन आदि मे आन्तरिक शक्ति किस रूप मे काम करती है ? इतना जरूर पता है कि दूध पीने से ताकत आती है, लेकिन दूध किस प्रकार अन्दर पहुचता है तथा दूध के जरिये शरीर को ताकत देने वाला अन्दर का तत्त्व कौनसा है ? एक व्यक्ति रूखा-सूखा ही खाता है, लेकिन वह कौनसी आन्तरिक दशा है जो फिर भी उसे पुष्ट बना देती है ? गाय, भैंस तो सिर्फ घास खाती है, फिर वह ऐसा मधुर दूध कैसे दे देती हैं ? यह कौनसा विज्ञान है ? यह कौनसी कलाकारी है ? और विज्ञान या कलाकारी है तो वह कौनसा वैज्ञानिक है—कौनसा कलाकार है, जिसकी सचालन शक्ति से ससार की समस्त प्रवृत्तिया सचालित हो रही हैं ?

आन्तरिक प्रयोगशाला :

बहुत बडी प्रयोगशाला और बहुत बडा कला मन्दिर कही बाहर नही है या किन्ही जड पदार्थों की देन नही है। यह तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही जीवन के साथ जुडा हुआ है—उसके जीवन का मूलाधार है। यह उसकी अपनी आत्मा का ही भीतरी ससार होता है, जहा से मूलत सारे ससार की समस्त प्रवृत्तियो का सचालन होता है। भीतरी ससार को केन्द्रित करके यदि निर्णय करने की जिज्ञासा निरन्तर चलती रहे तो ज्ञानार्जन की दिशा मे तीव्र प्रगति हो सकती है।

इतनी बडी प्रयोगशाला, इतना बडा कला-मन्दिर अथवा इतना बडा कारखाना जिस व्यक्ति के अपने पास मे हो, वह उसके बारे मे तो ज्ञान नहीं करे, लेकिन बाहरी कारखानो को देखता रहे तो उसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी ? भिलाई का नाम आपने सुना होगा, जो मध्यप्रदेश मे है तथा फौलाद के कारखाने की वजह से मशहूर है। लोग इस कारखाने को देखने

जाते हैं। यह कारखाना रूस की मदद से बना है। यह किसी की मदद से बना हो, लेकिन इसका सचालन कौन करते है ? वे ही इजीनियर जो मनुष्य रूप मे है और वे ही कलपुर्जो को जोडते हैं तथा उनको चलाते हैं। लोग इस कारखाने की प्रक्रियाओ को देखकर आश्चर्य करते हैं। ऐसे कारखानो को देखने वाले दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक तो वे जिन्होंने विज्ञान को समझा है और निर्णय किया है कि इतने भीमकाय कारखाने का निर्माण भी हमारे ही जैसे मनुष्यो ने किया हैं। उसकी स्वचालित प्रक्रिया भी मनुष्य की ही बनाई हुई है। दूसरी प्रकार के व्यक्तियों मे से किसी आदिवासी को खडा कर दीजिये, जिसने कभी सुना ही नही हो कि मनुष्य भी ऐसा कारखाना बना सकते हैं। वह भिलाई जैसे कारखाने को देखकर यही कहेगा कि इसको मनुष्य नही बना सकता—किसी भूत या देवता ने बनाया होगा। देखिये, मनुष्य वह भी है और यह भी है, लेकिन दोनो की निर्णय शक्ति मे कितना अन्तर है। एक मनुष्य किसी भी वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध मे ठीक से निर्णय कर पाता है, लेकिन उसकी ही जाति का दूसरा मनुष्य कोई निर्णय नही कर पाता।

तब फिर इस अन्दर के कारखाने के बारे मे निर्णय लेने वाले कितने मिलेंगे ? "मैं कौन हू"—इसकी जानकारी करने की धगश या जिज्ञासा किस प्रकार उत्पन्न होगी ? और जिज्ञासा नही होगी तो ज्ञान की अभिवृद्धि किस तरह की जा सकेगी ?

"मै कौन हूं ? ":

सबसे पहले अपने बारे मे जानने की जिज्ञासा बनावे, अपने सही स्वरूप को जानें तथा अपनी आतरिकता का मूल्याकन करना सीखें, यह अनिवार्य है। मैं समझता हू, आज के मनुष्य मे "मैं कौन हू ?"—यह जानने की उग्र जिज्ञासा बननी चाहिये। बाहर के पदार्थों को देखते हैं, लेकिन अन्दर क्यो नही देखते ? यह सोचने की जिज्ञासा होनी चाहिये कि जीवन की प्रक्रियाओ मे गहरे उतर कर चैतन्य तत्त्व को देखने की कोशिश करें। बाहरी अनुभवों मात्र को ही अखबारो वगैरा के जरिये अपने माथे मे भर लेने के कारण दृष्टि की दिशा सही नहीं बन पाएगी। ऐसे व्यक्तियो को किसकी उपमा दी जाय ? मैं समझता हू—उनको रटन्त तोते की उपमा दी जा सकती है, जिसको जो कुछ खरा-खोटा सिखा दिया जाता है, वह उसी को रटता रहता है। उनको सिखा दिया जाय कि "राम नाम जपना और पराया माल अपना" तो वह तोता उसी को रटता रहेगा। उसमे इतनी समझ नहीं होती है कि वह 'राम नाम जपने'

को समझे या 'पराया माल अपने' को समझे । बिना समझे ही यह तो रट लगाता रहता है ।

मनुष्य जब तक अपने मस्तिष्क या अपनी बुद्धि की सहायता से किसी भी वस्तु स्वरूप के निर्णय की अपने आप मे क्षमता नही बनाता है, तब तक उसका स्वभाव इस रटन्त तोते की तरह चलता है । वह अपनी सारी समझ की ताकत को साधारण पुस्तको व अखबारो की खू टी पर टाग देता है । वह मान लेता है कि जो इन पुस्तको तथा अखबारो मे लिखा है, वही सच है । ' मैं कौन हू ?" —इसका निर्णय लेकर अपनी निज की शक्ति को उपयोग मे नहीं लेता है तो फिर वह भूसे की बडी तादाद मे से गेहू के दाने कैसे चुन सकता है ? उसका अपना कोई निर्णय नही होता । उसका मानस जैसे गिरवी पडा रहता है और जो कुछ पढ लिया, वह उसी की रट लगाने लग जाता है । दूसरों के सहारे चलने से आत्म प्रतीति नही हो सकती है । दूसरों के सहारे अमुक सीमा तक चलें लेकिन आखिर जाकर तो अपना ही ज्ञान विकसित होना चाहिये—अपनी ही निर्णय शक्ति प्रखर बननी चाहिये ।

"मैं कौन हू ?"—यह एक आध्यात्मिक विषय है—स्वय की अनुभूति का प्रश्न है । इस आध्यात्मिक ज्ञान मे भी प्रारम्भिक गुणस्थानो की दृष्टि से आत्म स्वरूप को पहिचानने के लिये तथा उसकी पर्यायो को जानने के लिये अन्य नैमेत्तिक कारणो की आवश्यकता होती है । आगे के गुणस्थानो मे प्रवेश होता है तो उसके बाद किसी भी अन्य शक्ति को उतनी सहायता की आवश्यकता नही रह जाती है । वहां स्वय आत्मिक शक्ति इतनी जागृत बन जाती है कि वह अपने ही ज्ञान से स्वतत्र रूप मे वस्तु स्वरूप का निर्णय ले सके । साथ ही साथ कैसे श्रवण करते हैं, श्रद्धा किस रूप मे चलती है, किस प्रकार से प्रवृत्तियो का सचालन होता है अथवा कर्मों के साथ मे आत्मा का अन्तर्द्वन्द किस आधार पर होता है—इस दृष्टि से आत्म-चेतना सावधान बन जाती है। ऐसी सावधानी आत्मस्वरूप को जानने की जिज्ञासा से बनती है ।

आत्म-चेतना जगाइये :

आत्म-विकास या आत्म-चेतना की जागृति के सोपानो के रूप मे प्रारभिक कई गुणस्थानो तक दूसरो की मदद की जरूरत पडती है और यथोचित विवेक के साथ प्रयास किये जावें तो वैसी मदद मिल जाती है । लेकिन सोचने की बात है कि दूसरो की मदद कब मिलेगी ? पहली बात तो यह है कि लेने वाला जब स्वय मदद लेना चाहेगा। अगर स्वय मे लेने की इच्छा,

मता अथवा जागृति नहीं होगी तो दूसरे भला क्यों मदद करेंगे ? अनचाही मदद देने की किसको परवाह होती है ?

मान लीजिये एक व्यापारी पचास हजार रुपयों का चैक देने आता है, लेकिन वह जिसको देना चाहता है, वह अपना हाथ उठाकर चैक को लेना ही नहीं चाहे तो वह चैक देने वाला क्या जबरदस्ती से मदद करेगा ? वैसे आत्म-स्वरूप का निर्णय अथवा तत्त्व स्वरूप का निर्णय कोई व्यक्ति करना चाहता है और उसके लिये आवश्यक प्रयत्न करता है तो उसको कहीं न कहीं से साधन मिल जाता है। सन्त भी समय-समय पर समझाने की कोशिश करते हैं। लेकिन जब तक समझने वाला स्वयं जागृत नहीं होता, तब तक उसमें निर्णायक शक्ति की शुरुआत भी नहीं होती है। स्कूल में अध्यापक छात्रों को पढ़ाता है, अच्छी तरह से समझाने की कोशिश करता है, लेकिन पढ़ने वाला छात्र ऊंघता रहे तो अध्यापक क्या करेगा ? छात्र उसकी बात ही नहीं सुनेगा तो उसके समझने का सवाल ही कहां पैदा होता है ?

दूसरों की मदद से स्वयं की मदद को जगाने के लिये मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ी तीव्रता आनी चाहिये। बाहरी पदार्थों को देखते हुए तथा उनमें रमण करते हुए बहुत समय हो गया है। अब तो अन्दर की शक्ति को पहिचानने का कठिन प्रयास किया जाना चाहिये। ऐसे प्रयास को ही इस प्रार्थना की पंक्तियों में संकेत दिया गया है—

सामान्ये करी दरसण दोहिलूं,
निर्णय सकल विशेष।
मद मे घेर्यो रे अंधो केम करे,
रवि शशि रूप विलेख ॥

ऐसा प्रयास सफल होगा तभी 'निर्णय सकल विशेष' बन सकेगा।

रामकृष्ण परमहंस के पास एक पुरुष पुस्तकालय से उठकर आया और उनके सामने बैठ गया। उन्होंने उससे पूछा—भाई मैंने सुना है कि आपके पड़ोस वाला मकान गिर गया है। उस भाई ने कहा—आपको कैसे पता चला ? अखबार में तो मुझे कोई समाचार पढ़ने को नहीं मिला। रामकृष्ण को आश्चर्य हुआ कि जिस व्यक्ति को अपने पड़ोस का समाचार भी अखबार से ही मालूम होता है, वह व्यक्ति अपने जीवन की खोज कैसे कर सकता है ? इस तरह के व्यक्ति को किन शब्दों में कैसे क्या सम्बोधित किया जाय—यह

तो वह व्यक्ति स्वयं ही बतावे। उसकी आत्म-चेतना इस कदर सोई हुई है तो दूसरा उसकी क्या मदद कर सकेगा और वह खुद अपनी क्या मदद कर सकेगा?

अंतरंग घर को शुद्ध करिये :

मैं आपसे इतना ही सकेत कर रहा हू कि जब तक मनुष्य की बुद्धि अपने घर को ही देखने की नही बनेगी, तब तक कैसे उसका घर साफ सुथरा बनेगा और सजेगा—सवरेगा ? घर ही साफ और सुन्दर नही तो रहने का आनन्द कैसे आवेगा ?

यहा घर का तात्पर्य आप चूने-पत्थर से बने हुए अपने रहने के घर से न लें। उसे तो देखते, साफ करते और सजाते होगे। लेकिन यह घर जो ईंट, पत्थर और चूने का नहीं है, जिसकी सरचना अन्न, जल आदि पदार्थों से हुई है, उस घर मे रहने वाले मालिक की बात यहा कर रहे हैं कि वह मालिक अपने घर को देखे, उसको धर्म का साधन बनावे तथा निज स्वरूप का दर्शन करे। वह मालिक कौन है—यह तो आप समझ ही गये होगे।

घर का उद्धार करने के निमित्त से भगवान् महावीर के सिद्धान्तो पर विश्वास करें और यह देखें कि उन्होने कितनी बडी साधना, तपस्या एव कष्ट सहन के वाद सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति की एव ससार के कल्याणार्थ इन सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया। वह उनकी प्रबल समभाव की साधना थी। जैसे एकदेशीय उदाहरण के तौर पर मानें कि एक काच या स्फटिक मणि है जिसमे दूर से सामने आने वाले का प्रतिविम्ब गिरता है। जिस आकृति की वस्तु होती है, प्रतिविम्ब भी वैसा ही होता है। यह तो उस काच की स्वच्छता के अनुसार दिखाई देता है, लेकिन केवलज्ञानी का ज्ञान तो सकल निर्णय विशेष होता है अर्थात् उनके ज्ञान मे सामान्य और विशेप दो तरह के ज्ञान का प्रसग है। मैंने कहा था कि आत्मा की दो शक्तिया है—पहली सामान्य पदार्थों को देखने-जानने वाली और दूसरी उन्ही पदार्थो को विशेप रूप से जानने वाली शक्ति। विशेप रूप की शक्ति को ज्ञान कहा है और सामान्य शक्ति को दर्शन कहा है।

आप भी इसी रूप मे ज्ञान एव दर्शन की आराधना करके महावीर प्रभु के सिद्धान्तो को आत्मसात् कीजिये। तभी आप अपने घर को देख सकेंगे और उसका उद्धार कर सकेंगे।

ज्ञान और दर्शन की शक्तियाँ :

एक व्यक्ति बाहर से आता है और दरवाजे पर से ही पूछता है कि अन्दर कौन-कौन बैठे हैं ? दरवाजे पर खड़ा हुआ व्यक्ति सामान्य तौर से उत्तर देता है कि यहाँ पर मनुष्य बैठे हुए हैं। यह सामान्य ज्ञान हुआ जिससे यह निर्णय नहीं हुआ कि कौन और कैसे मनुष्य बैठे हैं ? तब आगे ज्ञान करना चाहेगा कि वे मनुष्य कहाँ और किसलिये बैठे हैं ? समझे कि वे धर्मस्थान पर धर्म श्रवण के लिये बैठे हैं और वहाँ आत्मा-परमात्मा की चर्चा चल रही है। चर्चा शास्त्रों के अनुसार चल रही है और शास्त्र भगवान् के दिव्य ज्ञान के सकलन हैं। शास्त्रों में चार बातों का वर्णन है—१ द्रव्यानुयोग, २ गणितानुयोग, ३ चरणकरणानुयोग तथा ४ धर्मकथानुयोग। वस्तु स्वरूप का ज्ञान और निर्णय शास्त्रों से होता है। ये सब विशेष ज्ञान की बातें होती हैं।

आत्माएं अनन्त हैं :

आत्माएं अनन्त हैं। मेरे कोई भाई सोचें कि एक-एक करके सभी आत्माएं मोक्ष में चली जायगी तो संसार खाली हो जायगा, लेकिन फिक्र न करें, ऐसा तीन काल में भी होने वाला नहीं है। इस बात को जरा समझ लें। दिन कितना बड़ा होता है ? चौबीस घंटों का। फिर एक घंटे में साठ मिनिट और एक मिनट में साठ सैकन्ड। इस तरह एक दिन-रात कहाँ से आया ? क्या भविष्य में से आया ? भविष्य काल वर्तमान में आता हुआ भूतकाल में चला जाता है और जो भूत में चला गया, क्या वह वापिस आयेगा? ऐसे कितने दिन भविष्य से आये और भूत में चले गये ? तीस दिन का एक महीना और बारह महीनों का एक वर्ष। कितने वर्ष गये और कितने वर्ष बाकी हैं—क्या आप बता सकेंगे ? अनन्तानन्त वर्ष चले गये फिर भी भविष्यकाल कभी खाली नहीं होगा। इसी तरह आत्माओं से संसार कभी खाली नहीं होगा।

योग्य-निर्णय कैसे लें ?

आप नियमित रूप से व्याख्यान सुनते है—इससे कुछ ज्ञान होता ही है। श्रद्धा से सुनते हैं तो आत्म-शुद्धि भी होती है। इस दृष्टिकोण से यह निर्णय ज्ञान विशेष का स्पष्ट निर्णय है। कई व्यक्ति दार्शनिक दृष्टि से बोलते है कि एक मात्र सामान्य ज्ञान होना चाहिये लेकिन यहा व्याख्यान मे भी सामान्य विशेष दोनो ज्ञान होते हैं।

कोई मनुष्य दूसरे से पूछता है कि आप किसके बेटे हैं ? किसके पोते हैं ? तब उसको उसका परिचय मिलता है। वैसे ही आत्मा के विषय मे निर्णय लेने का सोचे कि आत्मा की क्या स्थिति है तथा उसके सन्दर्भ मे शरीर की क्या-क्या स्थिति है ? शरीर किसका बेटा है ? शरीर के लिये तो निर्णय कर लेगे कि यह किसका बेटा है ? लेकिन आत्मा की क्या स्थिति है—इसका निर्णय कर पायेंगे तभी निर्णय होगा। इस निर्णय के सम्बन्ध मे एक रूपक प्रस्तुत कर दू ।

एक राजा था। वह जवान था और उसके बत्तीसो दात मजबूत और सुन्दर थे। लेकिन एक रात उसने स्वप्न मे देखा कि उसके सारे दात गिर गये है। इस स्वप्न को देखकर वह आश्चर्य मे पडा। उसने स्वप्न का निर्णय कराने के लिये स्वप्नपाठको को बुलवाया। राजा ने अपने स्वप्न को विशेष स्वप्न वताया। सारे स्वप्नपाठक विचार मे पड गये। एक स्वप्न-पाठक चतुर, मगर स्वार्थी था। वह झट से जागीर के लोभ मे विना पूछे ही सबसे पहले बोल पडा—मैं आपके स्वप्न का अर्थ वताता हू कि आपके जितने परिवार जन हैं, वे सारे के सारे खत्म हो जाएगे और आप अकेले रह जायेंगे-जैसे आपके सब दात चले गये और अकेला मुंह रह गया। राजा यह सुनकर क्रोधित हो उठा। उस स्वप्नपाठक को कारागृह मे डलवा दिया। राजा के क्रोध को देखकर अन्य स्वप्न-पाठक शान्त होकर बैठे रहे।

राजा के क्रोध को कम होता हुआ देखकर एक स्वप्न-पाठक बोला-राजन, पहले वाले ने अविवक से उत्तर दिया था। मेरा निर्णय यह है कि आप के मुह मे जो सारे दात स्वप्न मे गिर गये, उसके अनुसार आप अपने परिवार के बीच मे दीर्घायु होकर बहुत समय तक विराजेंगे। राजा ने प्रसन्न होकर पूछा—क्या मैं दीर्घजीवी रहूगा ? उसने उत्तर दिया— आपके समान दीर्घ-जीवी परिवार के सदस्यो मे से और कोई नहीं है।

समझे आप स्वप्न-पाठको के निर्णय को ? पहले और दूसरे के कथन का अन्तर समझ मे आया ? निर्णय वही था, लेकिन जो अन्तर था, वह कहने के विवेक मे था । दूसरे ने स्वप्न का निर्णय विवेक मे तथा शान्त चित्त के साथ सुनाया । तो वस्तु स्वरूप का निर्णय कैसे करना और कैसे कहना—यह उस मनुष्य मे जितनी शान्ति और विवेक शीलता होती है, उसी तरह वह प्रतिपादन करता है ।

अपनी आत्मा के विषय मे भी शान्त-चित्त के साथ विवेक से ओत-प्रोत होकर सोचे और उसके उत्थान के सम्बन्ध मे समुचित निर्णय लेने की चेष्टा करें ।

आत्म-निर्णय एक रहस्य

आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी निर्णय का प्रसग है । इस निर्णय को कैसे करना तथा कैसे उपलब्धि पाना—इस विषय मे शान्त और गभीर दिमाग की स्थिति के साथ यदि चिन्तन किया जायगा तो आत्म-निर्णय की अवस्था तक भी आसानी से पहुचा जा सकेगा ।

आत्मा का ध्यान : आत्मा का कल्याण

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये सहु थापे अहमेव ।।

अभिनन्दन भगवान् की स्तुति की कडियो का आपके सामने उच्चारण किया गया है । इस माध्यम से तीर्थंकर देव के मार्ग का अनुसरण करने की योग्यता प्राप्त हो, अनेक प्रकार के दु खो मे घिरे तथा उलझनो मे उलझे वर्तमान जीवन को सुलझा सकें एव आत्मा के ध्यान द्वारा आत्मा का कल्याण कर सकें—यह वाछनीय है ।

यद्यपि प्रार्थना की कडिया आध्यात्मिकता को लेकर अभिव्यक्त हुई हैं, किन्तु इनसे सामारिक एव आध्यात्मिक दोनो प्रकार के जीवन की समस्याओ का समाधान प्रकट होता है । भीतरी जीवन के स्वरूप का सकेत देने की दृष्टि से इसका कुछ विश्लेपण करने की आवश्यकता है और यह विश्लेषण वस्तु स्वरूप की व्याख्या एव पदार्थो की पर्यायो के प्रतिपादन मे निर्णायक बुद्धि को सहायता पहुचाता है ।

आधारभूत तत्त्वो का निर्णय, वीतराग वाणी का माध्यम :

आधारभूत तत्त्वों के सम्बन्ध मे जब तक सम्यक् निर्णय नहीं हो पाता है, वस्तु का सही स्वरूप स्पष्ट नही होता है । सम्यक् निर्णय के अभाव मे मानव-मस्तिष्क की उलझनो मे तनाव बना रहता है । यदि इन प्रश्नो का स्पष्ट निर्णय अपने मानस मे बन जाय कि—मैं कौन हू, मेरा जीवन क्या है,

मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ, मुझे क्या करना चाहिये और मैं क्या कर रहा हूँ—तो जीवन निर्माण के मार्ग का निर्धारण भी सरल हो जाता है।

यदि इन प्रश्नों के सम्बन्ध मे कोई स्वय अपनी बुद्धि से स्पष्ट निर्णय नहीं ले पाता है तो उसको वीतराग देव की शरण मे जाकर वीतराग वाणी के माध्यम से इनके समाधान एव निर्णय के सम्बन्ध मे विचार करना चाहिये। भगवान् ने बहुत कुछ निर्णीत बातें कही हैं। वर्तमान मे भगवान् महावीर के निर्णीत सिद्धान्त ससार के सामने हैं। इन सिद्धान्तो को यदि बारीकी से समझा जाता है तथा उनके अनुसार अपने जीवन को ढाला जाता है तो समय एव शक्ति की सार्थकता के साथ आधारभूत तत्त्वो का निर्णय भी स्पष्ट बन सकता है।

भगवान् महावीर ने आत्मा के स्वरूप को प्रगट रूप मे देखा और उसका इस शरीर के साथ कबसे सम्बन्ध है—क्यो यह आत्मा अलग-अलग शरीर परिवर्तित करती है—इन सारे तथ्यो का उन्होने अपने केवलज्ञान से जाना। तब सभी आधारभूत तत्त्वो के सम्बन्ध मे केवल ज्ञान से निर्णय लेकर उन्होने उनका सही स्वरूप तथा उसका विश्लेषण ससार के सम्मुख उपस्थित किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि—

नोइन्दिय गेज्भ अमुत्त भावा,
अमुत्तभावा वि य होई निच्च।

स्वांग बनाकर आई है –पोशाक सजाकर आई है, जैसा कि नाटक मे किया जाता है। नृत्यशाला मे नाटक दिखाने वाला अभिनेता दर्शकों के सामने तरह-तरह के स्वाग और भेष बनाकर आता है। समझिये कि वह राजा का भेष बनाकर रगमच पर आया तो दर्शक कह उठते हैं कि यह राजा आ गया। दर्शक लोग उस नट को राजा कहकर पुकारते है। थोडी देर बाद पर्दे के पीछे जाकर वह भिखारी का भेष धारण करके फिर से रगमच पर आ जाता है तो वे ही दर्शक उसको भिखारी कहने लगते हैं। वह नाचने वाली स्त्री का रूप धर कर आ जायगा तो वे दर्शक उसी नट को नर्तकी कहकर पुकारेंगे। दर्शक लोग भेष या पोशाक के सहारे उस नट को अलग-अलग नामो से पुकारते हैं जबकि वह न राजा होता है, न भिखारी या नर्तकी। वह नट होता है और अपनी कला से दर्शकों को मुग्ध बनाकर अपनी जीविका हेतु धनार्जन करता है। देखने वाले उसके भेष के अनुसार उस को अलग–अलग नामो से पुकार लेते हैं।

यही स्थिति शरीरधारी आत्मा की होती है। शरीर मे स्थित आत्मा को शरीर के रूप से जिस रूप मे देखते है, उस समय उसी नाम से उस आत्मा को पुकारते है। बाह्य रूप से आत्मा की पहिचान की जाती है। सामने कोई धनवान पुरुष आता है तो कह देते हैं कि सेठ साहब आरहे हैं। धनहीन को देखेंगे तो कह देंगे कि बेचारा दरिद्री आ रहा है। कोई पदासीन अधिकारी सामने होगा तो उसे अफसर साहब के नाम से पुकारेंगे और सत्तावान व्यक्ति होगे तो कहेगे कि मत्रीजी आ रहे है। यह क्या है ? क्या सेठ की पदवी स्थायी है और क्या गरीब हमेशा गरीब रहेगा ? ये तो सब स्वाग है—शरीर की और शरीर की अवस्थाओ की सब अलग–अलग पोशाकें हैं। मूल मे आत्मा–आत्मा होती है और सभी आत्माए समान होती हैं। इस रूप मे आत्मस्वरूप का सही ज्ञान वीतराग वाणी के माध्यम से होता है।

आत्मा रूपी या अरूपी ? स्वरूप निर्णय पर एक दृष्टि :

ससार के तरह–तरह के शरीर के स्वागो के बीच मे जो द्रष्टा है, जो इन सब स्वागो को देखता है, वही आत्मतत्त्व है। वही तत्त्व अलग–अलग रूप लेकर ससार के रगमच पर आता है और भिन्न भिन्न रूपो मे तदनुसार बाह्य दृष्टि से पहिचाना जाता है। यह आत्मा कभी नारकी, कभी पशु, कभी मनुष्य तो कभी देव शरीरो को धारण करती है, लेकिन जो गहरी दृष्टि वाले होते हैं, वे पोशाक पर कम और आन्तरिक स्वरूप पर अधिक ध्यान देते हैं और पहिचान लेते हैं कि आत्मा वही है, केवल पोशाक बदल कर आ रही

है। परन्तु साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति ऐसा निर्णय नहीं कर पाते हैं।

ये साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति बाहरी बुद्धि-वाले होते है। जैसे नादान बच्चा अपने सामने किसी को जिस रूप में देखता है, वैसे ही बता देता है। उसी तरह से बाहरी बुद्धि वाले व्यक्ति भी बाहर से जो रूप देखते हैं, उसी को सही रूप समझ लेते हैं। साधारण मनुष्यो मे आत्म-निर्णय की क्षमता बहुत मामूली होती है। वे यह-नहीं जानते कि आत्मा और शरीर दोनो एक है अथवा भिन्न-भिन्न? चूंकि आत्मा शरीर के रूप मे रही हुई होती है उस अपेक्षा से आत्मा रूपी कहलाती है। भगवान् महावीर ने दोनो तरह की आत्मा बताई है।

गौतम ने प्रश्न किया कि—

भंते, आया रूवि वा अरूवि वा?'

भगवान ने उत्तर दिया—

'गोयमा, आया रूवि वि अरूवि वि।'

ध्यान शाश्वत आत्मा का, रूप शरीर और आत्मा दोनों का :

सदा शाश्वत आत्मा का ध्यान रखा जाना चाहिये । इस ध्यान के साथ शरीर और आत्मा को देखने की कोशिश करनी चाहिये । यदि शरीर के अन्दर अविनाशी स्वरूप को नही देखकर नाशवान रूप को देखते है तो सही स्वरूप–निर्णय नही हो सकेगा । जो नाशवान रूप है, वह शाश्वत नही होता, बिखरने वाला होता है । कल्पना करे कि एक व्यक्ति बैठकर मन की एकाग्रता के लिये ध्यान करना चाहता है और सोचता है कि यह बादल मछली के आकार मे दिखाई दे रहा है सो मैं इस मछली का ध्यान करू । वह उस बादल की तरफ ध्यान लगाकर बैठ जाता है । बादल मछली के आकार मे कब तक रहेगा ? बादल तो भाप का सचय होता है, सो वह पल–पल मे रूप और आकार बदलता है । आपने ध्यान रखा हो तो देखा होगा कि बादलो के कई रूप बनते और बिगडते हैं । आप इन रूपो को देखते–देखते हैरान हो जायेंगे कि कैसी–कैसी आकृतिया बन जाती हैं । ये आकृतिया बदलती रहती है और क्षणिक स्वभाव की होती है । यदि शाश्वत का ध्यान न करे और क्षणिक का ध्यान करें तो मन बिखरता हुआ चला जाता है । जैसा बादल का क्षणिक और नाशवान स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप (आत्मा को छोडकर) पुद्गलो का होता है । सभी पुद्गल क्षणिक और नश्वर होते है ।

बादल की बात छोडिये, यह पत्थर का खभा स्थायी दिखाई दे रहा है, मगर यह भी स्थायी नही है । कोई भी पौद्गलिक पदार्थ स्थायी नही होता है । यह खभा भी एक रोज जीर्ण होकर नष्ट हो जायगा । वास्तव मे तो यह प्रतिक्षण क्षीण होता जा रहा है जिसकी सूक्ष्म प्रक्रिया को हम स्पष्ट नही देख पाते हैं । भगवान् महावीर ने बताया है कि कोई भी जड पदार्थ स्थायी नही है और यह शरीर भी स्थायी नही है, जिस पर आप लाडकोड कर रहे है और जिसके पीछे अकडते–वकडते फिरते हैं । यह शरीर भी प्रतिक्षण बदल रहा है- प्रतिक्षण जीर्ण हो रहा है । समय–समय से शरीर की दशा बदल रही है— बालक से युवा और युवा से वृद्ध होता चला जाता है ।

फिर क्यो शरीर पर मोह कर रहे हैं ? शरीर का रूप दिखाई देता है लेकिन वह रूप नश्वर है और नश्वर का ध्यान करना समीचीन नही होता । ध्यान अनश्वर का होना चाहिये और अनश्वर आत्मा है । क्या आप सोचते हैं कि यह शरीर आपका है या आप इस शरीर के हैं ? अपने आत्म–रूप मे न आप शरीर के हैं और न शरीर आपका है । यह शरीर तो एक

दिन बिगड़ जाने वाला है । आप प्रत्यक्ष आँखों से देखते हैं कि कितना ही सुन्दर रूपवान व्यक्ति होता है, उसके शरीर को भी एक रोज श्मशान में जला देते हैं । वह राख हो गया ? क्या ऐसे रूप में कोई तथ्य माना जायगा ? इस रूप में और इस शरीर में हकीकत में कोई सार नहीं है । इस शरीर के अन्दर आन्तरिकता में उतर कर देखने का प्रयत्न किया जाना चाहिये तथा शाश्वत आत्मा का दर्शन करना चाहिये । अन्दर जो अविनाशी तत्त्व है, उसको देखने की कोशिश करेंगे तो आत्मा को जान जायेंगे—आत्मा का कल्याण कर लेंगे ।

आत्मा के ध्यान से दूर और नाशवान तत्त्वों के प्रति मदान्ध :

प्रार्थना में कवि ने संकेत दिया है—

मद में घेर्यो रे आपो केम करे, रवि शशि रूप विलेख ।

आप रवि और शशि को जानते हैं । अभी यह जगमग प्रकाश किसका है ? सूर्य का है । क्या आप इसका सही वर्णन कर सकते हैं ? आप इसकी हूबहू व्याख्या नहीं कर सकते, इसकी उपमा नहीं दे सकते लेकिन इसको देखकर बयान कर सकते हैं । क्या एक जन्मान्ध भी बयान कर सकता है ? जन्म से अन्ध व्यक्ति की आँखों के ढाँचे में रोशनी नहीं होती है, अत वह कुछ भी नहीं देख पाता है । आँखों से देखकर जैसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, वैसा वह नहीं कर सकता है । सुनने से ही वह जानता है । उस जन्मान्ध से यदि पूछें कि सूर्य का प्रकाश कैसा होता है तो क्या वह बता सकेगा ? वह नहीं बता सकता है ।

अपने आत्मानुभव बतावे तो उसे अच्छा नही लगता है। मदान्ध को मद ही अच्छा लगता है और मद से घिरा हुआ व्यक्ति मद मे ही बेभान रहता है। वह सही स्वरूप का कभी प्रतिपादन नही कर सकता है, उसी तरह जैसे एक जन्मान्ध सूर्य के प्रकाश का सही वर्णन नही कर सकता है।

नाशवान तत्त्वो के प्रति जो मदान्ध होता है, वह आत्मा के ध्यान से दूर ही रहता है। धन का मद तो दूर रहा, जब मदिरा भी अधिक मात्रा मे कोई पी लेता है तो उसके नशे से भी वह इतना बेभान हो जाता है कि मा और स्त्री का भेद नही कर सकता है। नशा उसकी सही विचार शक्ति का हरण कर लेता है। मैंने अपनी आंखों से उडीसा मे देखा है कि शराब-खोरी के कारण कृषको और श्रमिको मे बेहद गरीबी है। अच्छी जमीन और अच्छी आय होते हुए भी शराब के कारण उनकी स्थिति नही सुधर पाती है। दारू का ठेकेकार उनको ठगता रहता है और वे नशे मे धुत रहकर बर्बाद होते रहते हैं। दारू से कई गुना नशा बाहरी पदार्थों के प्रति मोह मे होता है। उस मदान्धता मे आत्मस्वरूप के प्रति न तो रुचि होती है, न परीक्षा बुद्धि, जिससे आत्मा का ध्यान उससे बनता ही नही है। आत्मा का ध्यान नही बनता तो उसकी आत्मा के कल्याण की भी सरलता से सभावना नही मान सकते हैं। वह निज स्वरूप के प्रति सज्ञाहीन रहता है और पर-स्वरूप मे प्रलुब्ध बना रहता है, जिससे उसकी दृष्टि से मद निकलता नही है।

मद निकलता है त्याग से, आतमध्यान बनता है साधना से :

भगवान् महावीर ने राज्यसत्ता और धन-वैभव का परित्याग किया, अपने परिवार का तथा अपनी रूपवती पत्नी का मोह भी त्यागा और दीक्षित बनकर राजमहलो से दूर जगलो मे तपस्या प्रारभ की। अनेक प्रकार के परिषह के कष्ट उन्होने सहे। व कष्ट इसीलिये सह सके कि शरीर-सुख की ओर मे भी उन्होने अपना ध्यान हटा लिया। दीर्घकाल तक उनकी साधना चलती रही, तब कही जाकर अपने आत्म-स्वरूप का उन्होने निर्णय लिया और वे आत्मा का ध्यान करने लगे।

त्याग मे मद निकलता है और जिस बाह्य शक्ति के कारण मस्तिष्क मे मद चढ गया है, उस शक्ति का त्याग कर देना चाहिये। मद मे मनुष्य जहां अहंकारी बन जाता है, वहां त्याग उसको नम्रता सिखाता है। त्याग से नम्रता और नम्रता से मन मस्तिष्क को शान्ति मिलती है। इसी शान्ति के बल पर

सफल साधना की जा सकती है और साधना की सफलता से आत्मा का ध्यान सफल बनता है। स्वयं अनुभव करके महावीर ने दुनिया को बताया कि अनादि काल से मनुष्य बाह्य पदार्थों की ममता से ग्रस्त है जब कि ये पदार्थ क्षणिक और नश्वर होते हैं तथा जीवन समाप्त हो जाने पर साथ भी नही चलते हैं। मृत्यु आने पर कितना ही बड़ा पौद्गलिक पदार्थों का संचय हो—वह पीछे ही छूट जाता है। आत्मा के साथ इस जीवन के बाद भी जो कुछ जाता है, वह इसके द्वारा ही अर्जित शुभाशुभ कर्म होते हैं और उन कर्मों का शुभाशुभ फल आगे मिलता है।

आत्म ध्यान के सम्बन्ध मे सभी महापुरुषों ने प्रेरणा दी है। सबका यही कहना है कि भगवान् को कहीं बाहर मत देखो—उनको अपने भीतर ढूंढो। और अपने भीतर उतरने तथा भगवान् को ढूंढने की प्रक्रिया आत्म-ध्यान से ही प्रारम्भ होती है। भगवान् बाहर नहीं है- यहाँ तक कि सिद्ध-शिला पर भी नहीं है, क्योंकि सिद्धशिला के भगवान् साधारण व्यक्ति को दिखाई नहीं देंगे सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों से भी नहीं दिखाई देंगे। इसलिये यदि भगवान् को देखना है तो अपने ही अन्दर देखना है क्योंकि इसी आत्मा में भगवान् का स्वरूप समाया हुआ है।

अन्दर देखने के लिये पहले योग्य पृष्ठभूमि बनानी है। वह पृष्ठ-भूमि यही है कि इस जीवन का सभी तरह के मदों से छुटकारा करा लिया जाय, जिसके लिए मद के साधनों या या विचारों का परित्याग आवश्यक है। त्याग के माध्यम से मद मिटेंगे तो साधना के माध्यम से अन्तःकरण की विशुद्धि होकर आत्मध्यान की सक्षमता उत्पन्न होगी।

एकाग्रता साध लें तो आत्मध्यान अविचल बन जाता है

दुर्योधन अहंकारी और ईर्ष्यालु था सो यह सोचकर वह पहले ही खडा हो गया कि गुरु कही पहले अर्जुन को अवसर न दे दें। द्रोणाचार्य ने भी देखा कि वह अनुशासन मे नही चलता है सो उसे ही पहले परीक्षा देने दें। जब दुर्योधन निशाना तान कर खडा हो गया तो द्रोण ने पूछा--तुम्हे क्या दिखाई दे रहा है ? उसने कहा--मुझे सब दिखाई दे रहा है--जनता, आप, सभासद, मेरे साथी और मयूर का चित्र। द्रोण तनिक से मुस्कुरा दिये। दुर्योधन ने बाण छोडा और निशाना खाली गया। फिर द्रोण की दृष्टि अर्जुन पर पडी। नम्रतापूर्वक वह यथास्थान खडा हो गया। पहले द्रोण को प्रणाम करके वह तैल के कहाड मे देखने लगा। द्रोण ने वही प्रश्न अर्जुन से पूछा। अर्जुन ने उत्तर दिया--गुरुदेव, मुझे मयूर के पख के अलावा कुछ भी नही दिखाई दे रहा है। तब द्रोण का हृदय प्रसन्न हुआ और उन्होंने बाण छोडने की आज्ञा दी। बाण सीधा मयूर के पख को भेद गया।

अर्जुन क्यो सफल हुआ ? क्या आप कुछ कारण खोज पाये ? आप इस कथा के भावो को पकडें। अर्जुन इसलिये सफल हुआ क्योकि उसका ध्यान एकाग्र था। दुर्योधन को सब कुछ दिखाई दे रहा था, जबकि अर्जुन ने अपनी दृष्टि केवल निशाने के स्थान पर ही केन्द्रित बना दी और वह भी तैल के कडाह मे दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब पर। देखना नीचे और बाण ऊपर चलाना था। उसकी एकाग्रदृष्टि बनी तो उसे सफलता भी मिली।

इस कथानक से आपको क्या शिक्षा लेनी है ? क्या आपको परमात्मा के दर्शन करने हैं ? भगवान् कितने ऊचे हैं ? मयूर के चित्र जितने या उससे भी बहुत ऊचे ? यदि निशाना साधना है तो आकाश मे मत देखिये बल्कि हृदय रूपी तैल के कडाह मे देखिये ताकि एकाग्रता बने। एक की तरफ अग्रध्यान नही होगा और सब कुछ दिखाई देता रहेगा तो उससे निशाना नही सधेगा। हृदय के तैल का अर्थ है उसका स्नेह, उसकी आत्मीयता और उसकी भावनाशीलता। ऐसे एकाग्र भाव से जब आत्मा का ध्यान किया जायगा तो उस ध्यान मे अविचलता की अवस्था भी मजबूत बनती रहेगी।

ऐसे व्यक्ति यदि वस्तुतः आत्मा का ध्यान करना चाहते हैं और लक्ष्य सिद्ध करके परमात्मा के दर्शन करना चाहते हैं तो उनके लिये कडाह का तैल एकदम स्वच्छ होना चाहिये ताकि उसमे लक्ष्य अति स्पष्ट दिखाई दे। प्रतिबिम्ब जितना साफ दिखाई देगा, उतना ही लक्ष्यवेध सरल हो जायगा। विषय-कषाय और वासनाओ से हृदय गदला हो जाता है। तब उसमे प्रतिबिम्ब साफ नही

वाणी की सत्यता और सतर्कता

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये सहु थापे अहमेव ।।

मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओ पर कुछ विचार करने का प्रसग उपस्थित है । इस जीवन की वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे कुछ इस प्रकार का अधकार व्याप्त है कि आध्यात्मिक दृष्टि से अधिकाश लोगो को जन्मान्ध की सज्ञा दे सकते हैं । ऐसी जन्मान्धता अनादिकाल से इन आत्माओ के साथ चल रही है । एक भी बार इन आत्माओ की दृष्टि इस रूप मे नही खुली है कि वे इस ससार सागर से पार हो जाती । जो आत्मा एक समय के लिये भी जन्मान्धता समाप्त कर देती है उसकी दृष्टि एक न एक दिन अवश्य परिपूर्ण रूप ले लेती है और वैसा परिपूर्ण विकास आत्मा को मोक्ष मे पहुचा देता है ।

एक समय के लिये भी दृष्टि खुलने का अर्थ जन्मान्धता का समाप्त होना होता है, लेकिन इसके लिये मन की समुचित एकाग्रता एव उसके बाद वाणी की सत्यता और सतर्कता आवश्यक है । विचार और व्यवहार के बीच की कडी वाणी होती है । वाणी ही से विचार और व्यवहार के स्वरूप पर प्रकाश पडता है । वाणी हृदय के उद्गार प्रकट करती है तो आचरण के चक्र को भी चलाती है । इस दृष्टि से वाणी सत्य पर आधारित हो—यह आवश्यक है, किन्तु यह भी उतना ही आवश्यक है कि वाणी का उच्चार सतर्कता से किया जावे ।

किसी भी स्वरूप को गहराई से देखने की वृत्ति हो तथा परीक्षा करने की योग्यता बने। क्या सत्य है और क्या असत्य है उसकी निर्णय शक्ति की जीवन मे पग-पग पर आवश्यकता होती है।

वाणी मे सतर्कता :

कोई व्यक्ति सहसा बोल उठता है कि सूर्य आज सुन्दर लग रहा है। सूर्य सुन्दर लगता है—उसका यह कहना सत्य है अथवा असत्य ? आप कह देंगे कि सूर्य का उदय सुन्दर लगता है—इसमे गलत क्या है, सत्य ही है। लेकिन भगवान् महावीर ने कहा है कि यह व्यक्तिगत सत्य है, सामूहिक सत्य नही है और इसलिये समग्र रूप से सत्य नही है। सोचिये कि यह कथन व्यक्तिगत सत्य क्यो है ? वह इसलिये कि उस व्यक्ति को आज का सूर्योदय सुन्दर प्रतीत हुआ। कारण, सुबह ही सुबह उसको टेलीफोन पर उसके समधि से सूचना मिली कि उसको पौत्र की प्राप्ति हुई है। यह सूचना उसको अच्छी लगी तो उस प्रसन्नता की दशा मे उसको आज का सूर्योदय भी सुन्दर प्रतीत हुआ।

लेकिन जिस व्यक्ति के घर मे तार मिला हो कि उसके जवान लडके की मृत्यु हो गई है तो उस व्यक्ति से पूछिये कि उसको आज का सूर्योदय कैसा लगा ? वह यही कहेगा कि आज का सूर्य कतई अच्छा नही है। उसको सूर्योदय एकदम सुन्दर नही लगता। उसको तो अन्धकार की स्थिति मालूम हो रही है। इसलिये भगवान् महावीर ने कहा है कि सत्य बोलने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को बहुत सावधान रहना चाहिये।

इसका क्या कारण है ? आपने देखा कि आज के सूर्योदय की सुन्दरता के बारे मे सत्य व्यक्तिगत बन गया। एक व्यक्ति उसको सुन्दर अनुभव करता है तो दूसरे को वह कतई सुन्दर नही लगता। जब सत्य इस रूप मे व्यक्तिगत अपेक्षाजन्य होता है तो वस्तुत निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसका कथन सत्य है और किसका कथन असत्य ? वह सत्य बहुत कठिन होता है जो सार्वभौम और सर्वत्र सत्य हो। इसलिये भगवान् महावीर के निर्णय के अनुसार यदि कोई कथन करना है तो वाणी का प्रयोग यह होगा कि 'स्यात् प्रसग सुन्दरम्' अर्थात् कथचित् आज का सूर्योदय सुन्दर है। क्योकि घोर तपस्या के पश्चात् महावीर ने जिस सत्य को परिपूर्ण रूप मे देखा, उसे परिपूर्ण रूप मे प्रकट करने के लिये उन्होने वैसा ही मार्ग अपनाया तथा दुनिया को उसी रूप मे समझाया। महावीर की वाणी मे 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथचित्' कहा है और इसी शब्द का व्यवहार हुआ है। जैसा कि उदाहरण दिया गया

है। जन साधारण इस अस्तित्व-नास्तित्व सम्बन्धी विषय को कुछ ध्यान मे ले सके एतदर्थ एक देशीय रूपक उपस्थित किया जाता है। पिछले महायुद्ध की घटना से परिपूर्णरूप मे नही तो अनुमानित रूप से अस्तित्व-नास्तित्व की स्थूलता को जाना जा सकता है। पिछले महायुद्ध मे रूस मे एक बार मरे बीस व्यक्तियो के लिये डाक्टर ने प्रमाणपत्र दे दिया कि उनकी मृत्यु हो चुकी है। लेकिन अनुसधान करने वालो ने उन तथाकथित मृत शरीरो पर कई तरह के मालिश आदि के प्रयोग किये और उसके फलस्वरूप उन बीस लोगो मे से छ व्यक्ति जीवित निकले। उस दृष्टि से उन छ व्यक्तियो के प्रसग से मृत्यु का जो कथन किया गया, क्या वह असत्य नही हो गया?

यदि इसको इस रूप मे लें तब भी एकान्त मृत्यु का कथन असत्य हो जायगा कि मृत्यु तो शरीर की हुई है आत्मा की तो मृत्यु होती नही है फिर केवल यही कहे कि उसकी मृत्यु हो गई है, सत्य नही हो सकता है। अत ऐसे प्रसगो पर एकान्त रूप से ऐसा मत समझो कि कोई मर गया है अर्थात् मृत्यु की पुष्टि मत करो। जिन्दा करने की प्रक्रिया से कदाचित् मृतवत् व्यक्ति जीवित भी हो जाय? भगवान् ने सप्तभगी को समझाने के लिये बहुत बडा विश्लेषण दिया है अत प्रत्येक वस्तु को स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्तित्व रूप मे तथा पर-द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्तित्व रूप मे जानना चाहिए। जहा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, वहा सत्यनिष्ठा की स्थिति आनी चाहिये और सत्य वचन बोलने मे बहुत ही सावधानी रहनी चाहिये क्योकि सत्य निर्णय की अवस्था तक पहुचना बहुत ही कठिन होता है।

वाणी की सतर्कता आवश्यक :

अधिकाश व्यक्ति सहसा बोल दिया करते हैं। वे कई बार अधिक भी बोल देते हैं जबकि अधिक बोलना कभी-कभी दोषपूर्ण हो जाता है। साधारण व्यक्तियो की बात तो अलग है एक बहुत बडे प्रोफेसर थे जिनकी आदत ऐसी थी कि उनके सामने कोई भी बात रखी जाती तो उनका यही उत्तर होता कि वह तो मैं जानता हू। उनकी इस आदत से छात्र हैरान थे। एक दिन एक व्यक्ति ने उनसे एक अजीब ढग के नाम वाली पुस्तक का जिक्र किया, तब भी वे चट बोल पडे—हां मैंने इस पुस्तक को बीस वर्ष पहले देखी थी। उस व्यक्ति ने हस कर कहा—प्रोफेसर साहब, आप ऐसा झूठ बोलते हैं—यह पुस्तक तो अभी तक छपी ही नही है—अब छपेगी और आप बोलते हैं कि बीस वर्ष पहले देखी थी। प्रोफेसर लज्जित हो गये।

कई तरह की ऐसी-ऐसी आदतें लोग पकड लेते हैं, जिनके कारण वे अधिक झूठ बोलते हैं। ऐसी आदतो वाले लोगो की वाणी मे सतर्कता का भाव नही वत् रहता है। कभी-कभी छोटे व्यक्तियो के सामने बडे कहलाने वाले लोग धडल्ले से झूठ बोल जाते हैं और अपनी शान बघार देते हैं। एक स्थान पर एक सेना का पडाव लगा था—युद्ध हो रहा था। उस वक्त एक सैनिक ने अपने अधिकारी से निवेदन किया कि उसकी पत्नी बीमार है इसलिये उसको कुछ दिनो की छुट्टी चाहिये। अधिकारी ने कहा कि मैं खुद तुम्हारे गांव से पता लगा लेता हू कि तुम्हारी पत्नी बीमार है या नही। बीमार होगी तो छुट्टी मिल जायगी। वह वापिस आया तो अधिकारी ने कह दिया कि मैंने तपास करवा ली है, तुम्हारी पत्नी भली चगी है, तुमको छुट्टी नही मिलेगी। तब वह सैनिक मुस्कुराने लगा। अधिकारी ने आश्चर्य से पूछा—तुम हस क्यो रहे हो ? उसने कहा—हुजूर, मुझे आपके झूठ बोलने पर हसी आ रही है। मेरी तो अभी तक शादी ही नही हुई है, फिर मेरी पत्नी के भली चगी होने के समाचार आपको किसने दिये ? आप बडे अधिकारी भी ऐसा झूठ बोलते हैं ?

जिन व्यक्तियो के मन-मस्तिष्क मे जीवन का आन्तरिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व नहीं होता है, उनमे जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझने की कला भी नही होती है। अधकारपूर्ण जीवन को लेकर वे चलते हैं और उनके लिये झूठ बोलना जैसे एक आदत हो जाती है। उनके जीवन की ऐसी दुर्दशा बन जाती है कि उनको झूठ का पता नहीं, समय का पता नही, वचन का पता नही और यह भी पता नही कि वे क्या कुछ बोल रहे हैं और क्या कुछ आचरण कर रहे है ? इन परिस्थितियो के कारण महावीर का सकेत है कि परिपूर्ण सत्य को समझ कर यदि परिपूर्ण सत्य बोलना चाहते हैं तो—"नाई वेल वएज्जा—न अनिवेला वदेत्।" यहा 'वेला' शब्द के लिये दो बातें कही गई हैं। वेला कहते हैं समय को और अति वेला का तात्पर्य है कि बहुत समय तक मत बोलो—सीमित समय तक बोलो। अधिक समय तक बोलने से दिन भर, रात्रि भर और जितनी देर जागते रहते हैं, उतने समय तक व्यर्थ बोलते रहते हैं तो वह अति बोलना होता है और अति बोलने से पता नही चलता है कि असावधानी से व्यक्ति के मुह से सभवत कई झूठी बातें निकल जाय। इस तरह यह सब असत्य का सेवन हो जाता है। ऐसे असत्य सेवन मे कर्म अलग बधते है और शक्ति का अपव्यय अलग से होता है क्योंकि यह झूठ इस तरह बोल लिया जाता है कि बोलने वाले के मानस पर असर भी नहीं पडता है।

इसलिये 'न अतिवेला वदेत्' का अर्थ हुआ कि मर्यादित बोलो, सीमा मे रहकर बोलो। सत्य है तो सत्य को भी सीमा के साथ और सतर्कता के साथ बोलो। कहा गया है कि सत्य वाणी सतर्क भी होनी चाहिये।

हित-मित परिमित-सत्य :

अनेक व्यक्ति कह देते हैं कि सत्य को सत्य कहेगे। भगवान् महावीर कहते हैं कि अवश्य ही सत्य को सत्य समझ कर बोलो, लेकिन वह सत्य प्रियकारी होना चाहिये, सावद्य नही।

यदि एक व्यक्ति अधा है तो अनेक व्यक्ति जो सत्य बात कहने के लिये अपने आपको सत्यवादी समझते हैं, वे उसको पुकारते हैं, ओ अन्धे लेकिन भगवान् महावीर कहते हैं कि इस तरह तुमने असत्य कहा। शब्द ठीक है, वह अधा है, लेकिन अधे को अधा कहना सत्य नही है, वह असत्य की कोटि मे जाता है। सत्य वह होता है जो सुनने वाले व्यक्ति के दिल को चोट नहीं पहुचावे। सत्य वह है जिससे किसी की हिंसा न हो लेकिन जिस सत्य से दूसरे की हिंसा होती है, वह सत्य, सत्य नही है। अधे को अधा कहने पर उस व्यक्ति के दिल पर कितनी करारी चोट होती है। हाथ के मुक्के से किसी व्यक्ति पर प्रहार करते है तो उस चोट से उतना दुख नही होता जितना दुख वचन की चोट से होता है। यह वचन वज्र सरीखा शस्त्र है। यह शस्त्र दीखने मे ऊपर से नही दीखता, लेकिन जब लगता है तो कान के छिद्रो से अन्दर प्रवेश करके कोमल मन पर गहरा घाव करता है तथा मस्तिष्क की नसो मे तनाव ला देता है। क्या यह हिंसा नही है ?

साधारण लोग वचन की हिंसा को हिंसा नही समझेंगे। लेकिन भ० महावीर ने जिस सत्य को पाया, उसे उसी रूप मे दुनिया के सामने रखा कि सत्य प्रियकारी होना चाहिये। जब सत्य बोलो तो प्रिय भी बोलो। वह बोलना छेदकारी नही होना चाहिये याने कि बोलने से किसी का हृदय छिद जाता हो तो वह सत्य बोलना भी सदोष कहलायेगा। साधु के लिये भी उन्होने कहा है कि वह कठोर सत्य न बोले। यही कारण है कि साधु के लिये आठ प्रकार की वाणी को टाल करके बोलने का निर्देश दिया गया है। वह आठ प्रकार की वाणी जो निषिद्ध है, इस प्रकार है—१ कठोरकारी, २ कर्कशकारी, ३ छेदकारी, ४ भेदकारी, ५ मर्मकारी, ६ मोसाकारी, ७ सावद्य पापकारी तथा ८ निश्चिन्त भाषा कारी। इन पर गहराई से सोचें तो रहस्य प्रकट हो जायगा कि इस तरह की वाणी पर भगवान् ने प्रतिबन्ध क्यो लगाया है ? इस रूप

मे साधक को विवेक का रास्ता दिखाया गया है कि वह इस तरह की वाणी का प्रयोग करेगा तो उससे उसकी साधना की क्षति हो सकती है। भाषा मे विवेक नही रहता है तो सुनने वाले पर भी उसकी साधना की कमी झलकेगी।

कोई पूछता है—महाराज, क्या यह काम कल कर लेंगे ? तो चट से बोल पडते हैं कि हा, यह काम कल कर लू गा। लेकिन भगवान् कहते हैं कि यह निश्चय भाषा है और ऐसी भाषा का प्रयोग नही करना चाहिये। सही भाषा यह होगी कि ऐसा करने की भावना है, समय पर क्या बनता है, अभी क्या कह सकता हू ? ऐसा बोलने से वचन की सत्यता की सुरक्षा हो सकेगी। कल कुछ भी हो सकता है और चाहते हुए भी वह काम नही कर सके तो वाणी का असत्य तो लग ही जायगा। सत्य के सरक्षण के लिये हा निश्चय-कारी भाषा का वर्जन किया गया है।

दया पालो का रहस्य

जीवन में कई तरह के प्रसग आते हैं। किस समय क्या हो और क्या न हो—अपनी वाणी को सभाल करके सत्य के साथ चलना चाहिये। इस वचन-पद्धति मे बिना विवेक के चलते हैं तो यह उचित नहीं है। आठ प्रकार की भाषा का वर्जन करते हुए ज्ञानीजनो ने प्रत्येक व्यक्ति के साथ मधुर शब्दो का प्रयोग करने का सकेत दिया। अपनी वचन-पद्धति मे सत्य और मधुरता—दोनो का सामजस्य होना चाहिये।

आप लोग सतो के समीप मे जाते है, तब सन्त लोग कहते हैं—'दया पालो।' इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि सन्तो के समीप आये हो तो सन्त जीवन से तीर्थंकर देवो के स्वरूप का कुछ ज्ञान करो। जगत् के प्राणियो के साथ दया करने की भावना जीवन मे बननी चाहिये। इसका अर्थ यह भी है कि आप गृहस्थो के मन मे भी दया भावना रहेगी तो आप गृहस्था-श्रम मे रहते हुए भी कठोर शब्दो का प्रयोग नही करेंगे। कदाचित् घर मे कोई कम समझ रखने वाला सदस्य भी है तो उसको प्रेम व स्नेह से समझा सकते है। ऐसे कठोर शब्दो का प्रयोग न करें कि उसका दिल ही टूट जाय। काने को काना कहना भी कठोर शब्द ही कहलायगा। कभी-कभी किसी बाई के मुह से निकलता है—थारो माटी। जिसका अर्थ होता है—तुम्हारा पति। यह अज्ञान और अविवेक की बोली है। शिष्ट व्यक्ति इस तरह नही बोलते हैं। जहा शिष्टता के सस्कार होते हैं, वहा नम्र भाषा का प्रयोग होता

है—चाहे लडाई झगडा भी हो, तब भी श्रोछे शब्दो का वहा पर प्रयोग नहीं होता । यह 'दया पालो' शब्द अति शिष्टता का प्रतीक है । इसका अर्थ यह भी है कि सत्य के साथ अहिंसा भी हो तथा बोलने मे सत्य क साथ संयम भी हो । साधु की भाषा मे सयम की छाप रहनी चाहिये ।

सन्त बुलाने के लिये भी 'दया पालो' शब्द का प्रयोग करते है जिसका मतलब है कि आओ मगर इस शर्त के साथ कि दया रखोगे और प्राणियो की रक्षा करोगे। 'आओ' कहने से सीधी आज्ञा होती है जो हिंसाकारी स्थिति के साथ होने से साधु को सीधी आज्ञा नही देनी चाहिये। कदाचित् हिंसा का प्रसग आता है तो साधु की शर्त यह है कि विवेक के साथ आओ । यदि इस शर्त को छोडकर आते हो तो उसकी जिम्मेदारी आने वालो पर रहती है। साधु तो जैसा कथन करते हैं, उसी से बधे हुए हैं । यदि कोई साधु आठ प्रकार की भाषा मे से किसी प्रकार की हिंसाकारी भाषा बोलता है तो वह अपराधी होगा । लेकिन जिसको कहा गया है, वह भी यत्नापूर्वक आवे । भगवान की आराधना सभी को करनी चाहिये ।

कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् महावीर एव अन्य तीर्थंकरो द्वारा निर्देशित सत्य के सहारे जीवन की अन्धता को दूर करे और अन्धेरे मे भी अपने ज्ञान-चक्षु खोलकर चलें । भगवान् ने सर्वज्ञता की स्थिति को प्रगट किया और वे तीर्थंकर कहलाये । तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति शारीरिक स्थिति के साथ रहती है। उनका शरीर अन्तिम शरीर होता है—उस शरीर को छोडने के बाद उन्हे सिद्ध पद प्राप्त होता है । वहा शरीर नही रहता, अतः ज्ञान रहते हुए भी उनके द्वारा कथन करने का साधन वहा नही होता है । लेकिन पूर्व मे तीर्थंकर पद पर रहते हुए जो उन्होने उपदेश फरमाये – उस वाणी के माध्यम से दिल को खोलना चाहिये—दृष्टि को खोलना चाहिये, जिससे जन्मान्धता की स्थिति समाप्त हो सके ।

जब आत्मा की आध्यात्मिक जन्मांधता समाप्त होती है और ज्ञान दृष्टि खुल जाती है तो उसकी वाणी भी सत्यमय तथा सतर्क बन जाती है । उसकी वचन-पद्धति मे भी सत्य और मधुरता का सुन्दर सामजस्य बन जाता है।

हृदय-दीपक से सत्य प्रकाश :

सध्या के समय यह सूर्य चला जाता है, उस समय सब ओर अन्धकार व्याप्त हो जाता है । उस घने अन्धकार मे जहा भी मनुष्य एक दीपक

जला देता है तो उतने से स्थान मे से अन्धकार हट जाता है। उस प्रकाश मे यदि कोई जबरदस्ती अन्धकार को धकेलना चाहे तो क्या दीपक के रहते वहा अन्धकार आ सकेगा ? अन्धकार है तो वहा बिना प्रकाश आये या बिना प्रकाश लाये वह अन्धकार नही हटता है और जहा प्रकाश होता है, वहां अन्धकार नही आ सकता है। लेकिन एक बात और है—अन्धकार के पीछे कुछ ऐसे उसके साथी लगे हुए हैं—यह उत्प्रेक्षा है। समझाने की दृष्टि से कल्पना है कि अन्धकार के जो मित्र हैं, वे अन्धकार के लिये कार्य करते हैं और उनको प्रकाश पसन्द नही होता है। अन्धकार आपसे समझौता करना चाहता है। वह आपको दीखता नही है, इसलिये पास नही आता—वह अपने दूसरे साथियो को पहले भेजता है। अन्धकार के साथी हैं पवन आदि। पवन जब चलता है तो दीपक को बुझा देता है—आंधी उसको साथ देती है। यदि दीपक को जलाने वाला सावधान होता है और वह पवन के रास्तो को रोक लेता है तो वह फिर अन्धकार की सहायता नही कर पाता है। द्रव्य अन्धकार से उसके साथी घिरे रहते हैं।

वैसे ही ज्ञानियों का कथन है कि हृदय रूपी दीपक मे वास्तविक सत्य रूपी निर्णय का प्रकाश जला दें। फिर उसके सहारे जीवन का अन्धकार भाग जायगा। तब वहा प्रकाश ही प्रकाश रहेगा। यहा भी अन्धकार के कई साथी होते हैं, जैसे मोह, स्वार्थ, काम, क्रोध आदि। ये भी अन्दर जलने वाली हृदय की जोत को बुझाने की चेष्टा करते रहते हैं। यदि साधक सावधान रहे और इन विकारो के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दे तो वहा अन्धकार फिर से नही घुस सकेगा। वहा प्रकाश फैला हुआ रहेगा तथा जन्मान्धता मिटकर दृष्टि भी प्रकाशमयी बन जायगी।

प्रकाश नही बुझने देने के साधन क्या हैं ? एक व्यक्ति सन्तो के पास आता है और प्रवचन सुनने के बाद कहता है कि अमुक—अमुक त्याग करा दीजिये। वह धर्मस्थान से जैसे ही बाहर निकलता है, वैसे जो थोडी सी लौ लगी थी, उसको बुझा देता है और बाजार मे जाने के बाद तो वे ही घोडे और वही मैदान धमाचौकडी के लिये तैयार हो जाता है। इस स्थिति को रोकने के लिये निर्देश दिया गया है कि सवर का मार्ग अपनाया जाना चाहिये। यह सवर अन्धकार के साथियों को रोकने वाला होता है, इसलिये नियम, व्रत, प्रत्याख्यान का सहारा लेना आवश्यक है। मोह की दशाओ मे झट याद आ जायगा कि मैंने धर्मसभा के बीच मे त्याग लिया था और अब उसको तोडूगा तो सन्त क्या कहेगे और सभासद क्या कहेगे—ऐसे विचारो से

भी प्रतिज्ञा तोडने पर रोक लग जायगी और तब तक मोह का तूफान खत्म हो जायगा। ध्यान रखें कि हृदय रूपी दीपक मे सत्य रूपी निर्णय का प्रकाश देदीप्यमान रहना चाहिये।

सत्य वाणी से जीवन-निर्माण

भगवान् द्वारा बताये हुए मार्ग पर चल कर सत्य और सतर्क वाणी से जीवन को प्रकाशमय बनावें। इसमे त्याग, प्रत्याख्यान, सामायिक आदि सवर की क्रियाओ का वडा महत्त्व है। इन व्रतो से हिसादि दोष दूर होते हैं तो अधकार मिटता है। सत्य की ज्योति जलती है तो समग्र जीवन प्रकाशमय बन जाता है।

यह प्रसग चातुर्मास मे विशेष रूप से उपलब्ध रहता है। चातुर्मास मे कोई धधा नही रहता और फसल भी पूरी आई हुई नही रहती है। इससे सारी परिस्थिति सवर क्रियाओ के लिये अनुकूल रहती है तथा वायुमडल भी अनुकूल होता है। इसलिये सरलता के साथ सहज रूप मे सवर के माध्यम से हृदय के अधकार को हटाने का प्रसग बन सकता है। दुर्गम नयवाद की बात दार्शनिक क्षेत्र की है, लेकिन वाणी को सत्यमय, प्रियकारी तथा किसी भी उत्तेजना से रहित सहज बनावें तो वैसा अभ्यास आप आरभ कर सकते हैं।

आत्मा के उच्चतम विकास का सबका ही लक्ष्य एक है। उस लक्ष्य की तरफ सबको बढना है और उस लक्ष्य के अनुरूप प्रगति की साधन रूप वाणी की सत्यता एव सतर्कता का सबको निर्माण करना है।



मुक्ति बाधक कर्म रूपी पर्वत

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये दर्शन दुर्लभ देव।
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये सहु थापे अहमेव ॥

परमात्मा की स्तुति के प्रसग से अन्तरात्मा की आवाज कडियों मे आवद्ध कर दी गई है। आन्तरिक चेतना-अन्त करण की शक्ति जब प्रभु के स्वरूप का वर्णन सुनती है और जब उसे यह विदित हो जाता है कि जैसा प्रभु का स्वरूप है, वैसा ही इस आत्मा का भी स्वरूप है—केवल आत्मा कर्मों के आवरणो से आवृत्त है और आवरणो की वजह से अपने निज स्वरूप को समझ नही पा रही है तो आत्मा की चेतना एव शक्ति मे एक नया उत्साह समा जाना चाहिये। ऐसा ज्ञान हो जाने के वाद आत्मा की अपनी हीन-भावना भी समाप्त हो जानी चाहिये।

फलस्वरूप इस आत्मा मे जब भी निज स्वरूप को प्राप्त कर लेने की आकांक्षा पैदा होगी और प्रभु के दर्शन की तीव्रता जागृत हो जायगी तो आत्मा अपनी विकास-यात्रा पर प्रस्थान कर देगी। प्रस्थान कर लेने के वाद भी उसकी मजिल आसान नही है। बीच में बडे-बडे पहाड हैं और उन पहाडों की दुर्गम घाटियो, बीहड जगलो तथा कटीली झाडियों को पार किये बिना उन पहाडो से पार नही पा सकेंगे। इनको पार करने के लिये अमित आत्म-विश्वास की आवश्यकता होगी। आत्म विश्वास होगा तभी आत्मा का पुरुषार्थ कर्मरत रहेगा। पुरुषार्थ की कर्मठता चलती रहेगी तो एक दिन मजिल भी मिल कर रहेगी।

बाधाओ से संघर्ष :

आत्म-भावो में जो परमात्मा के दर्शन की जिज्ञासा बनती है, उसे

ही आत्मा से साक्षात्कार तथा आत्मा के दर्शन की जिज्ञासा कह सकते है। दर्शन की आन्तरिक पिपासा को लेकर जब साधक साधना के मार्ग पर आगे बढता है तो उसको उस मार्ग पर चलते हुए कई प्रकार के अनुभव होते हैं तथा साथ ही मे कई प्रकार की आन्तरिक अनुभूतिया भी होती हैं। उन्ही के सहारे उसको आगे बढने का उत्साह और साहस बढता जाता है। मार्ग पर होने वाली प्रगति से अन्त करण की अवस्था अधिक विशुद्ध एवं अधिक प्रेरणा-दायी बन जाती है। तब उसकी अभिलाषा दृढ हो जाती है कि वह इस मनुष्य तन मे रहते हुए उसी मानव जीवन मे आत्मा से साक्षात्कार करके निज स्वरूप को पहिचान ले तथा परमात्म-स्वरूप के भी दर्शन करले।

इस आत्मानुभूति के साथ वह जिस मार्ग पर चल रहा होता है, उस मार्ग के प्रति उसकी आस्था सुदृढ बन जाती है एव वह उस मार्ग पर ही आगे-से-आगे चलते रहने के लिये सकल्प-बद्ध हो जाता है। उस अनुभूत मार्ग पर गमन करने का उसका उत्साह और साहस होता है तथा उसका दृढ सकल्प होता है, फिर भी ज्यो-ज्यों वह आगे बढता है, मार्ग की विकटता उसके सामने आने लगती है। तरह-तरह की आपत्तिया एव बडी-बडी बाधाए उसका मार्ग रोक कर खडी हो जाती हैं तथा उसके साहस को गभीर चुनौतिया देती हैं। तब जैसे एक संघर्ष की सृष्टि होती है। एक मोर्चे पर साधक की साधना उन बाधाओ से लडने के लिये डट जाती है। बाधाओं की ताकत भी कम नही होती है। उनसे लडने के लिये आत्म-विश्वास के साथ आत्म-शक्तियो को भी जगाना पडता है। शक्तिया टकराती हैं और ज्यो-ज्यो बाधाए हार खाती जाती हैं, साधक की प्रगति उस मार्ग पर होती जाती है।

आत्म-साक्षात्कार का मार्ग वास्तव मे आसान नहीं होता है। इस प्रार्थना की पक्तियो मे ही अनुभव के भाव गूथे हुए है कि अगणित बाधाओ को जब साधक अपने सामने मार्ग रोक कर खडी हुई देखता है तो एक बार वह ठिठक जाता है। वह सोचता है कि मजिल के बीच मे इतने पहाड पार करने है जबकि उसका कोई सगी-साथी भी नही है। वह उसके सघर्ष का अन्तर्द्वन्द होता है। आनन्दघन जी की यह प्रार्थना १६ वी शताब्दि की बनी हुई है और उनकी प्रार्थनाओ में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, उनमे आध्यात्मिक रस भरा हुआ है। यह रस प्रगतिशील साधक के लिये अमृत के समान है, जिसे पीकर वह कई गुना साहस के साथ इन बाधाओ से सफल सघर्ष कर सकता है।

'घाती डूंगर आड़ा अति घणा' :

प्रार्थना मे एक साधक के साधना-मार्ग की कठिनाइयों को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्, साधक के नाते आपके दर्शन करने के लिये आपके बताये हुए मार्ग पर आगे चलने की मैं कोशिश करता हू तो मुझे 'घाती डूगर आडा अति घणा' दिखाई देते हैं। डूगर का अर्थ होता है पहाड और वे पहाड भी घाती और भयावने हैं। फिर पहाडो की सख्या भी कम नही—वे बहुत हैं और जैसे मार्ग के सामने मार्ग को रोके हुए खडे हैं। बडे-बडे पहाड—उनकी बीहड चट्टानें घाटिया और झाडिया दिखाई दे रही हैं। इनके बीच मे होने से दर्शन रूपी मजिल कही दृष्टिगत नही हो रही है। मैं कदाचित् कुछ ढिठाई करके —साहस करके आगे बढने की कोशिश करता हू तो ऐसे विकट मार्ग पर चलने के लिये कोई साथ नही मिलता। यदि जगली और पहाडी रास्ते मे किसी सगी साथी का सहयोग मिल जाता है तो रास्ता चाहे कितना ही कठिन हो-एक से दो मिलकर उसको बडी सरलता से पार कर सकते हैं। लेकिन क्या करू, मुझे किसी का साथ भी नही है। एकाकी व्यक्ति को विकट मार्ग बडा लम्बा और कठिन प्रतीत होता है।

इस बाहरी दृष्टान्त के जरिये कवि वास्तव मे आत्म विकास की कठिनाइयों का उल्लेख कर रहे हैं। वे कहते हैं—

घाती डूगर आडा अति घणा,
तुम दर्शन जगनाथ।
ढिठाई करि मारग सचरू,
सग न कोई साथ॥

आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा मे ये घाती डूगर हकीकत मे 'घन घाती कर्म' हैं, जिन्हें नष्ट किये बिना न अरिहत होते हैं और न आत्म-दर्शन कर सकते हैं। ये डूगर ऐसे हैं जो आत्मा को अपनी इस यात्रा से प्रतिपल निरुत्साहित और हताश करना चाहते हैं तथा उसे धर्म के प्रति रुचि से अलग हटाने की चेष्टाए करते हैं।

ये घनघाती कर्म पहले से ही याने कि अनादिकाल से आत्म शक्तियो को दबाए हुए है और आत्मा इनके अधीन रहकर दुर्बल बनी हुई है। इस अवस्था मे यह अगर बोध पाकर अपनी उन्नति का मार्ग खोजती है और साधना के बल से उस मार्ग पर चलना चाहती है तो उसके ये शत्रु घाती

डूंगर बन कर उसका मार्ग रोक लेते हैं। वे अपने शिकार को अपने हाथ से छूटने देना नही चाहते। ऐसी दशा मे विकासोन्मुख एव जागृत मानव को इन बाधाओ के सामने अपने साधना-मार्ग पर आगे बढते रहना कठिन सा प्रतीत होने लगता है। मार्ग की विकटता और घाती डूगरो को देखकर उसका मन कभी डिगता है, कभी सभलता है और वह आत्म नियत्रण की कला सीख लेता है तो आगे बढकर बाधाओ से टकरा जाता है—सघर्ष मे अन्तिम विजय प्राप्त कर लेने की प्रतिज्ञा के साथ।

आज के मानव की अवस्था :

घाती डूगरो की बाधाए याने कि कर्मो के आवरण दीखने में ही विकट नही होते, बल्कि आत्म विकास के साथ छलावा करने मे भी प्रवीण होते हैं। इस बीसवी शताब्दि के आधुनिक युग मे इन छलावो को पग-पग पर देख सकते हैं, अगर आप अपनी दृष्टि को पैनी और अन्वेषी बना लें। आज शरीर की सुख-सुविधा के इतने अधिक साधनो का निर्माण हुआ है कि आज का मानव मात्र सुखोपभोगी है अथवा सुखोपभोगी बनने की उग्र लालसा रखता है। शरीर की सज्जा को बाहर से अधिक सजाने के लिये नये नये आकर्षण और नये नये पदार्थ बने हैं उनको प्राप्त कर लेने के लिये मनुष्य तिलमिलाता है। उन पदार्थो को प्राप्त करने मे सारी जिन्दगी बरबाद कर देता है और कई बार बल्कि अधिकाश रूप मे वे पदार्थ प्राप्त होते भी नही है। रात और दिन फिर भी मनुष्य उनकी लालसाओ मे दौड धूप करता रहता है। इसीलिये वर्तमान युग का नाम अर्थ युग पड गया है।

अर्थ आदि का मोह—यह आज के मानव के लिये जरूर घाती डूगर है। अर्थ की प्रधानता जैसे उसके जीवन मे घुल मिल गई है और इसी कारण स्वार्थ का रूप विकराल हो गया है। अधिकाश मनुष्यो के मस्तिष्क मे एक ही बात गूजती रहती है कि कैसे वह अपनी रोटी-रोजी को सुखदाई बनाते हुए अधिक से अधिक समृद्ध बन सकते हैं। स्वार्थ की इतनी तीव्रता है कि मनुष्य अपने ही अपने लिये सोचता है। सामूहिक हित की बात पर उसका कम ही ध्यान जाता है। मैं समझता हू कि आज की दुनिया मे रोटी रोजी का जितना प्रश्न नही है, उतना पेटी का प्रश्न है—फैशन और विलास का प्रश्न है। मोटे तौर पर देखें तो मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकताए होती हैं—पेट भरने को अन्न, लज्जा ढकने को वस्त्र और रहने के लिये आवास। ये आवश्यकताए इतनी बडी नही हैं कि मनुष्य को अपनी सारी जिन्दगी झोक देनी पडे। इनकी उपलब्धि आसानी से हो सकती अगर अपनी अपनी पेटिया

भरने की तृष्णा मिट जावे। अपने निर्वाह के साधन मनुष्य उपलब्ध करले—इसमें क्या बडी वात है—उसके पास तो बुद्धि, श्रम, पूंजी आदि के अनेक साधन हैं। लेकिन जिनके पास साधन नही हैं, हाथ नही है और मनुष्य जैसी बोलने की शक्ति नही है, वे भी तो अपना जीवन निर्वाह करते हैं। फिर भी मनुष्य अर्थ के मोह का भारी बोझ लिये क्यों घूमता है?

आप देख रहे हैं, यह कबूतर बैठा है। इसके कौन से हाथ हैं? एक चोंच है—फिर भी इस चोंच के जरिये यह अपना निर्वाह कर लेता है, इसको कठिनाई नहीं होती। वस्तुत स्थिति यह है कि मनुष्य सीधे तरीके से चले तो रोटी रोजी का प्रश्न टेढा नही है लेकिन टेढाई आधुनिक फैशन के कारण है। लोग सिनेमा देखने जाते हैं और सिनेमा के पर्दे पर जो लोग आते हैं, वे तरह तरह की पोशाकें पहिन कर दर्शकों को दर्शन देते हैं। उनकी पोशाक चाहे कैसी ही हो—दर्शकों के लिये वह आदर्श फैशन बन जाती है और वे भी वैसी ही पोशाक पहिनना चाहते हैं। चाहे किसी ने अपने नाखून किसी कारण से बढ़ाये हैं, लेकिन उनके बारे मे कुछ सुन लेते हैं, या अखबारो मे पढ लेते हैं तो स्कूल—कालिजों मे पढ़ने वाले छात्र और छात्राए सोचते है कि हमारे भी नाखून बढने चाहिये। वे यह नही सोचते कि नाखून बढ़ाने से क्या नुकसान है। फैशनपरस्ती मे एक अधापन आता जा रहा है।

इसका कारण विकार वर्धक आज का साहित्य भी है। नायक नायिका के प्रसगो वाले अथवा जासूसी हरकतों से भरे हुए उपन्यास हर कोई पढता है और उनसे मिलने वाली विकारो की अशान्ति अपने मन मे भर लेता है। फिर तृष्णा का ही ताडव नृत्य मचता है। यह चाहिये, वह चाहिये और इस तरह जरूरतो का अन्त ही नही आता है। इस तरह साधना मार्ग की बाधाओ के विभिन्न रूपो का सार आज की परिस्थितियो मे दिखाई दे रहा है।

शाति के लिये साधना-पद्धति :

किसी भी बात, वातावरण, सिद्धान्त या विचार का हृदय पर कैसा प्रभाव पड रहा है—इसको जानने की एक मात्र कसौटी यही है कि क्या उस के प्रभाव से आपको आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति हो रही है? आपकी तृष्णा हो, आपका फैशन हो या आपकी आधुनिक साहित्य पढने की इच्छा हो, आप इस बात की सच्चे मन से खोज करिये कि जो आप चाहते है, वैसा कर लेने के बाद क्या आप को आन्तरिक शान्ति मिल जाती है? वह छलनामय अथवा प्रवचना पूर्ण शान्ति नहीं होनी चाहिये, सरल और सहज शान्ति होनी चाहिये।

अगर ऐसी शान्ति नहीं मिलती है तो उस बात, वातावरण या विचार को तुरन्त त्याग दीजिये । यदि इस कसौटी को सही बनाये रखेंगे तो सही मार्ग मिलने मे भी कठिनाई नही आयगी ।

जब तक जीवन की शान्ति और मन की साधना की तरफ मनुष्य का ध्यान नही जाता है, तब तक उसे सच्ची शान्ति का अनुभव भी नही हो पाता है । जिन व्यक्तियो अथवा विद्यार्थियो ने विकार पूर्ण साहित्य-सामग्री मे रुचि ली है, वे अपने हृदय को टटोलें और सोचें कि क्या उनको सच्ची शान्ति मिली है ? इसलिये ज्ञानी जन का सकेत है कि लौकिक शिक्षा कितनी ही प्राप्त करलें—उससे जीवन निर्वाह या अर्थ लाभ भले ही हो जावे, उससे आत्मा को शान्ति और मन को सन्तोष नही मिलेगा । मन को सन्तोष इस चिन्तन से मिल सकता है कि शिक्षा को कैसे अन्तमुंखी रूप दिया जाय और शिक्षित बन कर किस रूप मे आन्तरिक अभ्युदय की दिशा मे आगे बढा जाय ?

प्राचीन काल की स्थिति का वर्णन शास्त्रो मे आता है । भगवान् महावीर के समय मे सख जी और पोखलीजी सरीखे श्रावक थे । ऋद्धि की दृष्टि से वे प्रतिष्ठित श्रेष्ठियो मे से थे फिर भी उस लौकिक उपलब्धि पर उनका मोह नही था । उन्हे आत्मिक शान्ति की चाह लगी रहती थी और वे उसके लिये भगवान् महावीर की सेवा मे पहुच जाते थे । भगवती सूत्र मे इन श्रावको का वर्णन है । वे भगवान् से अपने जीवन की आध्यात्मिक शान्ति के उपाय पूछते थे और उनके बताये हुए उपायो पर चलते थे। प्राय श्रावको के लिये वर्णन आया है कि एक माह मे कम से कम छ पौषध तथा प्रतिदिन एक सामायिक अवश्य करते थे । इस दृष्टि से एक माह का चौथाई हिस्सा वे अपनी आत्म साधना मे लगाते थे । तभी उनके जीवन मे सच्ची शान्ति व्याप्त रहती थी ।

प्रति पूर्ण पौषध का अर्थ आप जानते ही होगे । पूर्व रात्रि के १२ बजे के समय से अन्न, जल आदि कुछ नही लेना और दूसरे दिन के सूर्योदय तक यही स्थिति चलनी चाहिये । वैसे पूरी पूर्व रात्रि मे कुछ नहीं लेना चाहिये । किसी व्यक्ति से कदाचित् न रहा जाय तो पूर्व रात्रि के १२ बजे बाद तो कुछ भी नही लेना चाहिये । लेकिन दुर्बलता की गलिया नही निकालनी चाहिये कि पूर्व रात्रि मे पूरे तौर पर सूर्योदय से पहले तक अन्न जल लेते रहें और यह कहें कि त्याग तो सूर्योदय से शुरु होता है । ऐसी गलिया निकालना अपनी दुर्बलता है और इससे आत्म शान्ति नहीं मिलती । इसी तरह सूर्योदय से

पहले डट कर खा पी लें और फिर उपवास पच्चक्ख लें या नवकारसी-पोरसी कर लें तो वह व्रत का पालन नहीं होगा।

साधना के मार्ग मे कमजोरी की गलियां निकालना अच्छी बात नहीं होती है। यदि ऐसा करते हैं तो वे उनकी कमजोरी है। व्रत प्रत्याख्यान करके किसी को कुछ दिखाना नहीं होता है, वे तो आत्म-साधना के लिये किये जाते हैं, फिर उनमे गलिया निकालने का क्या मकसद है ? मैंने बताया है कि अपने प्रत्येक विचार और कार्य को इस कसौटी पर रख कर जाचें, उसके गुणावगुण देखें और तभी उनको सही मानें-जब उनसे सच्ची आत्म शान्ति मिले।

पहाड़ों को पार करने की शक्ति :

आत्म साधना करने के लिये शास्त्रकारो ने जिन व्रत, प्रत्याख्यान तथा तपस्या का आचरण आचरणीय बताया है, उनके माध्यम से आत्मा को अपनी विकास यात्रा मे 'घाती डूगरों' को पार करने की अथाह शक्ति मिल जाती है। आप यथा-साध्य पौषध, उपवास आदि करें और ये करने की स्थिति मे नहीं हैं तो दयाव्रत किया जा सकता है। यह भी दसवें पौषध की गिनती मे आता है। शास्त्रकारो ने 'असरण पाण खाइम साइम' का जिक्र किया है और यह जिक्र दयाव्रत का है। दयाव्रत करने वालों का त्याग एक करण एक योग आदि से जा सकता है। जैसा त्याग करना चाहें, वैसा कर सकते हैं और जितना त्याग करेंगे, वैसी ही आत्म-शक्ति विकसित करेंगे आत्म-शक्ति के अनुसार ही कर्मों के पहाड़ों को पार कर सकेंगे तथा आत्म-दर्शन की मजिल पर पहुच सकेंगे।

शास्त्रो का अर्थ बहुत गूढ है। इस दया व्रत में सबका समावेश हो जाता है। साधारण व्यक्तियो को, बालको को और वृद्धो को धर्म मार्ग पर लगाने के लिये यह एक उपयोगी उपाय है। बच्चे चौबीस घटे तक बिना अन्न पानी के नही रह सकते हैं और वैसा ही हाल वृद्धो का होता है, इसलिये वे दया व्रत द्वारा सुलभ आत्म-साधना कर सकते हैं। इससे उनको यह ज्ञान हो जाता है कि जीवन मे शान्ति कैसे मिल सकेगी ? सामान्यतया व्यापारी वर्ग मे सन्तो के प्रति या धर्म के प्रति श्रद्धा बहुत मिलती है, लेकिन साधना के मार्ग का प्रश्न आता है तो कुछ कमजोरी महसूस होती है। वैसे कई युवक युवतियो ने ए ए तथा आठ-आठ उपवास कर रखे हैं लेकिन उसके साथ पौषध व्रत भी करलें तो सोने मे सुहागा हो जाय। पौषध आदि व्रत कम करने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि वे आध्यात्मिक साधना के उपायो के

धारे मे बारीकी से चिन्तन नही करते है तथा दूसरे, व्यापारी वर्ग के बालक जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, अहकार मे आकर धार्मिक क्रियाओ से दूर हट जाते हैं। अत व्रताचरण का सही परिचय पाकर इन कारणो को हटाना चाहिये।

आत्मा कर्म बंध हसते हसते करती है, लेकिन उनका अशुभ फल जब उदय मे आता है तो वह हाय विलाप करते हुए नही थकती है। इस तरह बधे हुए कर्मों का क्षय करना आसान नही होता है। कर्म क्षय का मार्ग ही आत्म शुद्धि का मार्ग है। कर्म मैल है। जब आत्मा से यह छूट जाता है तो वह निर्मल बन जाती है। वैसे ही कर्मों के पहाडो को सकल्पबद्ध आत्मा अपनी साधना एव निर्मलता से पार कर लेती है। उसकी सजग शक्तियो के पाव फौलादी हो जाते हैं।

शिक्षा की यथार्थता आत्मशक्ति के पाने में।

मैं स्पष्ट उल्लेख करके बताना चाहता हूं कि जहा अधिक शिक्षित वर्ग है तथा उस पर सही सस्कारो की छाप है तो उस वर्ग मे अहकार की मात्रा कम होगी तथा वह वर्ग आध्यात्मिक साधना की तरफ भी आकर्षित रहेगा। सच पूछें तो शिक्षा और सस्कारों की यथार्थता आत्म शक्ति को अधिकाधिक अशो मे प्राप्त करने मे है। आन्तरिक शक्ति ही मनुष्य को सदाशयी बना सकती है। वैसा मनुष्य व्यापक हृदय के साथ स्व-पर कल्याण मे प्रवृत्त होने की आकांक्षा रखता है। वस्तुस्थिति की दृष्टि से आपको रूपक दे दूं।

आप जानते होगे कि उदयपुर नगर मे अधिक लोग उच्च शिक्षित एव राजकीय सेवा मे रत हैं, फिर भी अपना सारा काम करते हुए वे व्याख्यान तथा अन्य धार्मिक क्रियाओ मे यथा समय भाग लेते हैं। प्राय कई भाई ऊंचे पदो पर काम करते हैं किन्तु वे जब मिलेंगे तो इसका आपको पता ही नहीं चलेगा। जैसे डॉ० बोर्दिया साहब को तो आप जानते ही हैं—कितने सरल व्यक्ति हैं। थोडा सा वैभव मिलने पर भी साधारण मनुष्य धर्म-कर्म भूल जाते हैं और अभिमान के घोडे पर सवार हो जाते हैं। वहा डॉ बोर्दिया साहब धर्मपाल परिवारो की कितनी सेवा कर रहे हैं? यह बहुत बडा आत्म-भोग है। इनके इकलौता पुत्र है—अशोक कुमार। जैसा वृक्ष, वैसा ही फल। विद्यार्थी जीवन से ही अशोक कुमार की धर्म की ओर रुचि है। माँ-बाप भी इतने विवेकशील हैं कि अशोक कुमार को शादी कर लेने की जिद् नही करते हैं। अशोक कुमार ने डॉक्टरी पास कर ली है, अब अभ्यास कर रहे हैं।

लेकिन उसके साथ-साथ वे आध्यात्मिक दिशा में तेजी से बढ रहे हैं । बोदिया सा. ने तो यहाँ तक कह दिया कि अगर अशोक कुमार दीक्षा भी लेना चाहे तो वे आपत्ति नही करेंगे । ऐसी होती है शिक्षा और सस्कारो की यथार्थता, जो सुदृढ आत्म-शक्ति के रूप मे प्रकट होती है । ऐसा सशक्त व्यक्तित्व ही कर्म-दल से सफल युद्ध कर सकता है ।

कर्म विलय से मुक्ति-मजिल की प्राप्ति :

मैं यह कह रहा था कि आप परमात्म-दर्शन एवं आत्म-दर्शन के लिये उत्सुक हैं अथवा नहीं ? और उत्सुक है तो मजिल तक पहुचने के लिये पहाडो को पार करने का साहस भी है अथवा नहीं ? ये पहाड आठो कर्मों के पहाड हैं जिनमे मोह कर्म का पहाड सबसे ऊंचा है और सबसे विकट है । इस पहाड को पार करलें तो दूसरे पहाडो को पार करने में फिर उतना पुरुषार्थ नही लगाना होगा । यह ध्यान मे रखें कि समस्त कर्मो को और पहले चार घन-घाती कर्मो को क्षय करके ही आत्म-दर्शन एव परमात्म-दर्शन की मजिल तक पहुच सकेंगे ।

मोह का अर्थ है ममत्व-सांसारिक पदार्थों एव जड तत्त्वो पर व्या-मोह । इस ममता भावना को छोडना समता को अपनाने के साथ ही हो सकता है । कर्मों की निर्जरा की तरफ बढने से पूर्व आश्रव को रोकना तथा सवर मे प्रवृत्ति करना होगा । कर्मों की निर्जरा से कर्मो का क्षय प्रारंभ हो जावेगा । कर्मों की निर्जरा के लिये व्रताचरण तथा तपाराधन आवश्यक है। आप भाई-बहिनो में काफी तपस्या चल रही है और इसके साथ ही अपनी वृत्तियो पर भी ऐसा नियत्रण बनाना चाहिये कि आत्म-शुद्धि का वातावरण मजबूत बन सके, क्योंकि जिस परिमाण मे आत्म-शुद्धि होगी, उसी परिमाण में आत्म-शक्तियां प्रस्फुटित हो सकेंगी ।

इस दृष्टि से उपवास करें तो पौषध अवश्य करें । उपवास न हो सके तो दयाव्रत ही रखें, लेकिन किसी न किसी रूप मे आध्यात्मिक साधना मे अवश्य ही भाग लें । इस साधना का प्रमुख लाभ मन का निरोध करने मे होगा । मन की उछल-कूद बडी टेढी होती है और वह गलत-गलत दिशाओ मे भगता रहता है, इसलिये तपाराधन द्वारा उसकी गति को साधना की दिशा मे मोडना होगा । मन को मोड लिया तो आत्म-विकास की यात्रा बहुत सरल हो जायगी और मजिल तक शीघ्र पहुच सकेंगे ।

साधना के अभ्यासी बनें :

जैसे बच्चे को प्रारभ मे खेल-कूद में आनन्द आता है—पढाई मे

नही। फिर जब उसे लगातार स्कूल भेजा जाता है और वह समझ जाता है कि पढना तो पडेगा ही—तब वह मन लगाकर पढना शुरु कर देता है। फिर ज्यो-ज्यो वह आगे पढता है, उसकी पढाई मे रुचि बढती जाती है और आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे भी आनन्द का प्रसग प्रारभ मे नही आता है, लेकिन ज्यो-ज्यो साधना मार्ग पर साधक के चरण आगे बढते रहते हैं, उसको आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता रहता है।

प्रारभ मे मन जिद्द करता है कि धार्मिक क्रियाओ से छुट्टा रहू किन्तु धीरे-धीरे सामायिक, उपवास, पौषध आदि का क्रम चलाते रहेंगे तो मन का अभ्यास भी बढ जायगा और तब उसको आध्यात्मिक क्षेत्र मे आनन्द आने लगेगा। अभ्यास और पुरुषार्थ के बाद तो साधक के पावो मे इतनी शक्ति आ जायगी कि वह पहाडो को लाघकर मजिल पर पहुच जायगा।



मोह बनाम विष मिश्रित मधु !

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव ॥

"श्रेयांसि बहु विघ्नानि" ज्ञानीजनो का कथन है कि श्रेयकारी याने कल्याणकारी कार्य में बहुत ज्यादा विघ्न आया करते हैं। कार्य जितना अच्छा से अच्छा होगा, बाधाए भी उतने रूप में अधिक से अधिक आवेंगी। बुरे कार्यों में मनुष्य की सहज प्रवृत्ति हो जाती है और उनमे रुकावटें भी कम आती हैं। यही प्रसग आध्यात्मिक साधना के विषय मे भी है।

अपने अन्त करण को पवित्र बनाने के लिये जब एक साधक आत्म-शुद्धि के लक्ष्य के साथ अपने प्रयत्न आरभ करता है तो उन प्रयत्नो के साथ ही नाना प्रकार के विघ्न आने भी आरभ हो जाते हैं। कभी कुछ बाधा आती है तो कभी कुछ बाधा और प्रत्येक बाधा साधक को अपनी साधना से डिगाना चाहती है। क्योंकि आत्मशुद्धि का कार्य ससार के सभी कार्यों मे श्रेष्ठतम कार्य होता है और इसलिये बाधाए भी विकट और भयावह होती हैं।

इन बाधाओं मे सबसे बड़ी बाधा होती है मोह कर्म के माया जाल की। मोह कर्म बडा जटिल होता है और अनेक प्रकार से साधक की साधना को खडित करने के लिये तैयार रहता है। मोह के सबसे ऊंचे पहाड को पार करने के बाद ही दूसरी ओर परमात्मा के दर्शन सभव बनते हैं। यह मोह का पहाड दूर से ऐसा लुभावना दिखाई देता है कि कई बार साधक का मन भी ललायमान हो जाता है मोह के पहाड मे भटक कर तब उसे ज्ञात होता है कि इसकी कटीली झाडियां किस तरह उसे लहूलुहान कर देती हैं।

अन्तः प्रवेश करें :

दुनिया में जितने भी कार्य देखने को मिल रहे हैं, उन सब कार्यों की तुलना यदि इस आध्यात्मिक जीवन साधना रूपी काय से की जाय तो मालूम होगा कि दुनिया मे इससे बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ कार्य नही है। यही कारण है कि इस श्रेष्ठ कार्य की प्रक्रिया को समझने मे थोड़ी देरी लगती है। क्योंकि यह सर्व-श्रेष्ठ सार तत्त्व होता है। निस्सार तत्त्व को समझने मे ज्यादा समय नही लगता है।

एक आम का वृक्ष जल्दी दृष्टि में आ जाता है, लेकिन आम का फल नजदीक जाकर ही देखा जा सकता है और उस फल के रस का आस्वादन तो फल को काम मे लेने पर ही जाना जा सकता है। बाहर से जिसको जानते हैं तो वे तो टहनिया और पत्तिया होती हैं। टहनियो और पत्तियो मे सार नही होता है। आम के रस की तुलना मे आम की पत्तियो का कोई स्वाद चखे तो उससे कोई जायका नही मिलेगा वल्कि मुह का स्वाद और तरह का हो जायगा। वह निस्सार सा लगेगा। आम का सार छिलके रूपी पर्दे के पीछे रहा हुआ है। आम के छिलके को ऊपर से देखने मे रस का जायका मालूम नही होगा, लेकिन फल के भीतर मे प्रवेश करने से ही रस का जायका मालूम हो सकेगा। कही भी भीतर प्रवेश करें तभी वह सारपूर्ण है अथवा निस्सार है—इस तथ्य का परिपूर्ण पता चल सकता है।

वैसे ही ससार मे निस्सार कार्य—फिजूल और जल्दी मे नष्ट हो जाने वाले (कार्य) बहुतेरे दृष्टिगत हो रहे हैं और विना भीतरी ज्ञान तथा निर्णय के दुनिया उन निस्सार कार्यों के पीछे भाग रही है और उन्हे पूरा कर लेने के लिये जी तोड मेहनत कर रही है। लेकिन निस्सार कार्य से सार निकलने की आशा ही कैसे रखी जा सकती है? सारपूर्ण कार्य किया जाय तो उससे जरूर सारपूर्ण फल मिलेगा। यदि कोई आम के फल का छिलका हटा कर उसके रस का आस्वादन लेता है तो उसका जायका मिलेगा। परन्तु इस आम के रस से भी अनत गुना श्रेष्ठ आत्मोत्थान का कार्य अमृत के तुल्य होता है। यह श्रेष्ठ कार्य भी ऐसा होता है कि इस काय को प्रारंभ करने के लिये पहले पहल हर कोई व्यक्ति उत्साहित नही होता है क्योंकि उसमे प्रारभ मे ही अमृत का स्वाद नही मिल जाता है। पहले पहल तो उसमे बाधाए और विपदाए आती है, लेकिन जो उन बाधाओ और विपदाओ मे सुदृढ रहकर आगे बढ जाता है याने कि आत्म साधना की आन्तरिकता मे प्रवेश कर लेता है, उसको इस अमृत का स्वाद मिलने लग जाता है। इस स्वाद को जो एक बार चख लेता है और

उसके ग्रानन्द को पहिचान लेता है, फिर वह बाहर के किसी भी दृश्य में उलझता नहीं है। फिर तो वह त्वरित गति से ग्रमृत-स्थल तक पहुचने का प्रयास ही करता है।

ग्रन्तर इतना ही पडता है कि वह रस एक वार उसके मुह मे चला जाय ग्रौर वह उसका ग्रास्वादन लेले। एक वक्त हृदय मे उसकी तरलता एव मधुरता का ग्राभास हो जाता है ग्रौर उस ग्रास्वादन का ग्रानन्द उसके ग्रनुभव मे ग्रा जाता है तो फिर वह साधक न तो उस ग्रानन्द को भूलता है ग्रौर न ही उस ग्रानन्द को सम्पूर्णतया ग्रात्मसात् करने के पवित्र कार्य को किसी भी कीमत पर छोडना ही चाहता है। ग्रत ग्रावश्यकता इस तथ्य को समझने की है कि किसी भी तत्त्व ग्रथवा कार्य को ऊपर ही ऊपर देख लेने से उसके सार का ज्ञान नही किया जा सकता है। यदि यह ज्ञात करना है कि वह तत्त्व ग्रौर कार्य सारपूर्ण है ग्रथवा निस्सार है तो उसके भीतर उतर कर ही सही ज्ञान लिया जा सकता है। इस ज्ञान मे वीतराग देवो का जीवन तथा ग्रनुभव मार्ग-दर्शक बन सकता है याने कि उन्होने जिस मार्ग को ग्रपने ग्रनुभव से सारपूर्ण बताया है, उस पर नि शंक होकर चलना ग्रारभ करदे ग्रौर उसके बीच मे ग्राने वाली बाधाग्रो से नही डरें तथा प्रलोभनो से नही भटकें तो उस मार्ग की ग्रान्तरिकता मे प्रवेश कर लेने के बाद ग्रमृत का ग्रानन्द ही ग्रानन्द मिलना शुरू हो जायगा।

पारिवारिक मोह ग्रात्म शुद्धि के लिये घातक :

ग्रात्म शुद्धि के श्रेष्ठ कार्य को करने के लिये जब एक साधक तत्पर होता है तो सबसे पहले बाधा या रुकावट उसके परिजनो की तरफ से ग्राती है। परिवार के सदस्य कहते हैं कि ग्रभी से यह क्या कर रहे हो? ग्रभी ही क्या धर्म कार्य करने की तुम्हारी ग्रायु ग्रा गई है? ग्रभी तो बचपन है या ज्वानी है इसलिये ग्रभी खाग्रो पियो ग्रौर मोज करो तथा पारिवारिक ममता को समझो—जब धर्म करने की ग्रायु ग्रावे तब धर्म भी कर लेना, ग्रभी क्या जल्दी है?

परिवार जन बडी प्रगाढता के साथ प्रेम का प्रदर्शन करते हैं ग्रौर कभी कभी तो इतनी ममता दिखला देते हैं कि मनुष्य साधना की बात भूल जाता है ग्रौर ग्राध्यात्मिक जीवन से दूर हट जाता है। वह यह समझने लग जाता है कि जो कुछ सारपूर्ण तत्त्व है, वह यही परिवार के लोगों का स्नेह है। कभी माता कहती है—पुत्र, तू मेरे लिये सर्वस्व है—तुम्हारे बिना मैं एक

पैल के लिये भी जीवित नहीं रह सकूंगी । तुम्हारा मुंह नहीं देखती हूं तो मुझे तनिक भी चैन नहीं पडता है । कदाचित् तुम को बुखार आ जाता है तो मैं यही सोचती हू कि यह बुखार मेरे बेटे को न आकर मुझे आ जाता तो अच्छा रहता । मे तुम्हारे लिये सर्वस्व का अर्पण कर देने को तैयार हू । कभी भाई प्रेम जतलाता है और वह भी ऐसा ही प्रदर्शन करता है । कभी बहिन कहती है—भाई, मुझे तुम्हारे बिना अपने ससुराल मे भी सुख नही मिलेगा । और धर्मपत्नी तो यहा तक कह देती है–प्रियतम, मैं तो आपके भोजन किये बिना भोजन भी नही कर सकती हू । आप तो मेरे जीवन के प्राण हैं । मेरा जीवन–सर्वस्व तो आपके चरणो मे समर्पित है ।

ऐसे सब लुभावने दृश्य साधक के मन को स्थिर नही रहने देते । वह पिघल जाता है और सोच लेता है कि ये लोग ही मेरे लिये सब कुछ हैं। वह इस मोह के जाल मे ऐसा फस जाता है कि जिसके कारण वह साधना मार्ग पर एक चरण भी आगे नही बढ सकता है, बल्कि मोहाविष्ट हो जाता है तो वह पतन की तरफ लुढक सकता है । सचमुच के पहाड की चट्टानें और कटीली झाडिया जितनी मनुष्य के लिये बाधा रूप नही बनती है उतना यह मोह का बाहर से लुभावना दिखाई देने वाला और भीतर से काटो भरा हुआ पहाड एक साधक के लिये दुर्गम बन जाता है ।

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना मे अपने भाव अभिव्यक्त करते हुए यही कहा है कि हे भगवन्, हे जगत् के स्वामी, मैं क्या करू ? मैं आपके स्वरूप से साक्षात्कार करने के लिये बहुत ही लालायित हू और उस मार्ग पर आगे बढने की कोशिश भी करता हू तो घाती डूगर आडे आ जाते हैं ।

मैं सोचता हू कि बाहर के पहाड इतनी बडी रुकावट नही करते । लोग हिम्मत करके हिमालय की ऊची एवरेस्ट चोटी पर भी चढ जाते है, लेकिन मोह के पहाड की चोटिया बडी भयानक हैं । उन चोटियो पर विरले पुरुष ही चढ पाते हैं और कटीले पहाड को पार कर पाते हैं ।

मोह की पट्टी जब तक आखो पर चढी रहती है तब तक पारिवारिक ममता के दृश्य बडे लुभावने लगते हैं । लेकिन जब कभी इन लुभावने दृश्यों का भडाफोड होता है तो उनकी असलियत सामने आ जाती है और तब पता चलता है कि यह दिखाया जाने वाला प्रेम कितना ओछा और हल्का होता है ? समय पर नगा सत्य सामने आ जाता है ।

मोह को दूर करने का उपाय :

मोहासक्त दशा मे घर का वातावरण बडा अनुकूल लगता है, लेकिन जब गहरी दृष्टि से देखेंगे और सोचेंगे तो स्पष्ट समझ मे आ जायगा कि यह सारा वातावरण स्वार्थपरता पर आधारित होता है। जब तक सन्तान कमाई करने योग्य है—कमाकर लाती है, तब पुत्र स्नेह की रौनक दिखाई देती है। लेकिन जिस सन्तान मे कमाने की क्षमता नहीं होती है अथवा जो पुत्र कमाकर नही देता है, उस पुत्र के लिये वे ही परिवार के सदस्य किन शब्दो का प्रयोग करते है ? क्या आपने कभी अनुभव किया हैं ? दुनिया की कहावत है कि काम प्यारा होता है, चाम प्यारा नहीं होता। यदि पुत्र कमाई नहीं करता है, काम नही करता है, या सेवा नहीं करता है तो घरवाले चिढते लडते रहते है। उस पुत्र को धक्का तक दे देने की नौबत आ सकती है। यदि पुत्र के प्रति सच्चा स्नेह होता है तो वह कमावे या नहीं कमावे—उसका उनके स्नेह पर क्यो बुरा प्रभाव पडना चाहिये ?

लेकिन सामान्य लोग ऐसे तथ्यो की गहराई मे कहा जाते हैं ? बडे-बडे समझदार व्यक्ति भी मोह के जाल में कुछ ऐसे फस जाते हैं कि जिससे कई बार चाहते हुए भी वे अपने चरण आध्यात्मिक दिशा मे आगे नही बढा पाते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये एक रूपक है।

एक प्रतिष्ठित विद्वान् अपने परिवार की मोहासक्ति मे डूबे रहते थे और उसी मे अपने को आनन्दित मानते थे। सयोग से एक फक्कड विचरण करता हुआ उसी नगर मे पहुचा। हजारो लोग फक्कड के प्रवचन को सुनने के लिये एकत्रित हुए। विद्वान् महाशय भी पहुचे। फक्कड ने आध्यात्मिक जीवन साधना पर प्रकाश डालते हुए भौतिक सुख को सुखाभास के रूप में प्रतिपादित किया।

प्रवचन की समाप्ति पर विद्वान् महाशय ने फक्कड से कहा—फक्कड जी ! आपने जैसे वातावरण के लिये सकेत किया वैसा आध्यात्मिक वातावरण तो मेरे घर मे ही विद्यमान है। मेरे माता-पिता भाई भगिनी-पत्नी आदि सारा परिवार बहुत स्नेह और आनन्द के साथ रहते हैं तथा एक-दूसरे के प्रेम मे मजबूत बधे हुए है। अत मेरे तो घर मे ही आध्यात्मिक जीवन जैसा आनन्द प्राप्त है। परिवार मे आनन्द ही है तो आप परिवार छोडकर साधु क्यो बनवाए ? क्या साधु जीवन की साधना मे परिवार के समान आनन्द प्राप्त होता है ?

फक्कड ने जब यह सुना तो वे उस विद्वान् महाशय की प्रगाढ मोहासक्ति को समझ गए। तथा चिन्तन करने लगे कि इसकी मति बाह्य पदार्थों मे ही सुख की खोज कर रही है। आन्तरिक जीवन मे इसका प्रवेश नहीं है। फक्कड ने कई तर्क, उदाहरणो से उसको समझाया। फिर भी जब यथार्थ स्वरूप को मानने के लिये वह विद्वान् कटिबद्ध नही हुआ। तब उसे प्रेक्टीकल अनुभव कराने के लिये एक यौगिक प्रक्रिया सिखलाइ। जिससे व्यक्ति श्वास रोककर कई घण्टे मृतवत् रह सकता। जिसे प्राणायाम भी कहते है। यौगिक प्रक्रिया सिखलाने के बाद यथार्थ परीक्षण की अवशेष प्रक्रिया भी सिखला दी।

विद्वान् महाशय भी इस कार्य के लिये तैयार हो गए। घर पर पहुचकर पेट के दर्द का बहाना बनाकर कुछ देर कृत्रिम रूप मे छट-पटाकर प्राणायाम की प्रक्रिया से श्वास रोककर मृतवत् शरीर की अवस्था बनाली।

इस अवस्था को देखकर परिवार मे कुहराम मच गया। सभी हाहाकार करते हुए करुण क्रन्दन करने लगे। डाक्टर वैद्य, हकीम बुलवाये गए। सबने विद्वान् महाशय के शरीर का परीक्षण किया। किन्तु इस निश्चेष्ट प्रक्रिया को न समझने के कारण सभी ने यही कहा—अरे इसकी तो मृत्यु होने ही वाली है। कोई औषध उसे स्वस्थ नही कर सकी। तब मन्त्र-तन्त्रवादी और ज्योतिषियों को बुलाया गया। लेकिन उनके भी मंत्र-तन्त्र कुछ नहीं कर सके। ऐसी अवस्था मे परिवार का करुण क्रन्दन बढता जा रहा था।

तब फक्कड जी अपनी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार चिटुडी अगुलि के नख मे रग लगाकर विद्वान महाशय के घर पहुच गए। जैसे उस करुण-क्रन्दन को सुनकर आये हों, उन्होने सारे मामले की जानकारी लेकर अपनी चिन्तातुर अवस्था बना ली। तब सभी परिवार जन उनसे निवेदन करने लगें कि आप हमारा सर्वस्व लेलें किन्तु इनके जीवन को किसी भी तरह बचा लीजिये। तब फक्कड जी बोले—इनका जीवन बच सकता है, मगर आप लोगो को कुछ त्याग करना पडेगा। सबने अपनी तैंयारी बता दी। फक्कड जी ने कहा—धैर्य रखिये, मैं कुछ प्रयोग करता हू। यह कहकर उन्होंने कुछ दूध मगाया तथा जिस अगुली के नख मे पहले से ही रग लगाया हुआ था। उस अगुलि को दुग्ध मे डाला तो दुग्ध का रग हरा हो गया। तत् पश्चात् ऐसा नाटक करने लगे, जैसे कोई तान्त्रिक प्रयोग कर रहे हो।

फक्कड जी ने वह नाटक पूरा करके उस विद्वान् के पिता से कहा—आपकी आयु ७० वर्ष के आसपास होगी। आप तो काफी ससार देख चुके हैं।

आपका जवान पुत्र बच जावे तो क्या आप अपना जीवन दे सकेंगे ? यह तंत्री-कृत दूध पी लें तो आपका शरीर चला जायगा और आपका बेटा बच जायगा। यह सुनकर पिता का मुंह उतर गया। उसने अनुनय किया कि कुछ ऐसा करें कि हम दोनों बच जांय। फक्कड़ जी ने कह दिया—ऐसा नहीं हो सकता। तब पिता वहां से धीरे-धीरे खिसक गया। फिर यही बात माता को कही गई वह सारा जेवर दे सकती थी—अपनी जान नहीं। भाइयों ने भी ऐसा ही किया और उछल-उछल कर चालने वाली बहिनें भी खिसक गई। तब धर्म-पत्नी का नम्बर आया। फक्कड़ जी ने कहा—आप तो पतिव्रता हैं, पति के लिये सर्वस्व दे सकती हैं—यह मौका आ गया है। यह दूध पी जाओ ताकि तुम्हें वैधव्य का कष्ट भी नहीं भुगतना पड़ेगा। वह धर्मपत्नी भी पति के लिये मरने को तैयार नहीं हुई और न बच्चों ने ही पिता के लिये अपने प्राण त्यागना स्वीकार किया।

तब फक्कड़ जी ने चिल्लाकर कहा—तुम सब इतने निर्दय लोग हो जो अपने प्रियजन के लिये भी त्याग नहीं कर सकते। चलो, मैं ही इसकी जान बचा लेता हूं। यह कहकर वे सारा दूध पी गये और अंगूठे से इशारा कर दिया कि वह विद्वान् उठ कर खड़ा हो जाय। विद्वान् उठ खड़ा हुआ और सभी देखते रह गये। तब फक्कड़ जी ने एक-एक परिजन का हाल उसे कह सुनाया। विद्वान् भी सारी बातें सुन ही रहा था। उसने तब फक्कड़ जी को कहा महाराज, वास्तव में मैं अज्ञान में था। परिवार वालों पर मेरा अमिट विश्वास था लेकिन इस प्रयोग से इन सब की परीक्षा हो गई कि ये सब स्वार्थ के साथी हैं। मेरी जिन्दगी का ये सब फायदा उठाते थे लेकिन मौत से बचाने को कोई भी सामने नहीं आया। अब मैं महात्मा जी के पास दीक्षित होकर आध्यात्मिक साधना का सच्चा आनन्द लूंगा।

यह तो एक रूपक है, लेकिन जब मोह के पहाड़ की कटीली घाटी सामने आती है और जब एक-एक का कांटा दिल में चुभता है तब तो मोह दशा से दूर हटने का सद्विचार किया ही जाना चाहिये।

अत्यन्त कष्ट प्रदायी मोह :

इस कथानक से क्या ज्ञान होता है ? लोग बाहर के डूंगर को देखकर डरते हैं कि इस पर कैसे चढ़ेंगे—उसको पार कैसे करेंगे ? इन बाहर के डूंगरों पर तो चढ़ा जा सकता है—जो भीतर वाली डूंगर है ? मोह के पहाड़ को पार करना बड़ा कठिन होता है। इसकी चट्टानें कुछ और ही तरह

की होती हैं। जब तक ये चट्टानें आत्म स्वरूप को दबाये रहती हैं, तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के मर्म को पहिचान नहीं पाता है और उस कारण आन्तरिक ज्योति को भी प्रज्ज्वलित नही कर सकता है।

यदि अन्तर्ज्योति को जगाना है तो अपने पारिवारिक जीवन मे गाढी ममता और आसक्ति मत रखिये। मोह के जितने स्थान हैं, उनकी असलियत को समझिये—बाहर के लुभावनेपन मे फसे हुए मत रहिये। ध्यान रखिये कि ऊपर से बहुत लुभावना दिखाई देने वाला पहाड बहुत ही कटीला और बीहड होता है। मोह के पहाड की असलियत दिल तोड देने वाली होती है। ऊपर के रूपक से आपका विचार स्पष्ट बन जाना चाहिये कि जिन व्यक्तियो को आप अपने ही मानकर उनके लिये दौड धूप करते हैं नीति अनीति का विचार नही रखते और अपने जीवन के अमूल्य तत्त्व उनके लिये लुटा देते हैं, लेकिन जब परीक्षा का समय आता है तो वे अपनी पीठ दिखा देते हैं। इससे बढकर स्वार्थ का और क्या अधिक कटु परिचय मिल सकता है ?

आसक्ति का जितना त्याग करेंगे—मोह दशा से जितने दूर होंगे, उतनी ही आपकी आत्म शक्ति सुदृढ बनेगी और आप मोह के पहाड को पार कर लेने मे समर्थ बन जायेंगे। इसलिये बाहरी आसक्ति को छोड कर निर्भयता के साथ आगे बढिये तथा पुरुषार्थ को प्रकट करके अपनी आध्यात्मिक साधना मे सलग्न बनिये। साधना के इस मार्ग पर जितनी भी विपदाए या बाधाए आवें, उनका आत्म विश्वास पूर्वक मुकाबला कीजिये। उनसे सफलता पूर्वक तभी टक्कर ले सकेंगे, जब अन्त करण को पवित्र बनाने की दृष्टि से अपनी ही आन्तरिकता मे प्रवेश करेंगे। बाहर के वीभत्स वातावरण से जब अन्दर की खोज मे उतरेंगे तो आम्र रस के आस्वादन की तरह आपको भीतरी आनन्द मिलता हुआ चला जायगा। प्रारंभ मे कुछ कठिनाइया आयेंगी, लेकिन अन्दर की शक्तियो से उनका साहस के साथ सामना हो सकेगा एव अन्तर्ज्योति के जगने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होगा।

आत्म शुद्धि सहायक दृढ़ संकल्प :

मैं यह संकेत दे रहा हू कि आप आत्म–शुद्धि के साधना मार्ग पर अपने चरण आगे बढावें। यह भगवान् का निर्देशित मार्ग है और उनका अपना अनुभूत मार्ग भी है। प्रभु महावीर एवं अन्य सभी तीर्थंकरो ने यह मार्ग दर्शाया है। यह मार्ग है कर्मों को क्षय करके अपनी आत्मा को पवित्र बना लेने का मार्ग। कर्मों को क्षय कर लेने का अर्थ है कि तदनुरूप साधना मे प्रवृत्ति करें। सासारिक ममता

से दूर होकर आत्मीयता के भावों से अनुप्राणित बनें। वास्तव में मानव जीवन की सार्थकता इसी में रही हुई है कि आप कर्मों के कठोर पहाड़ों को पार करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें। यह आत्म शक्ति आपको साधना से ही प्राप्त हो सकेगी।

यह साधना कैसी है ? यह मार्ग कैसा है ? आत्म शक्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी ? इन सब प्रश्नों पर गहराई से विचार करें, शास्त्रों की सारपूर्ण बातों पर चिन्तन मनन करें तथा निष्ठा व श्रद्धा के साथ वीतराग देवों के मार्ग पर निर्भय होकर चल पड़ें। जिनके जीवन में इतना साहस बन जाय–इतनी तैयारी हो जाय कि आध्यात्मिक साधना में पूरे जीवन को भी गला देना है लेकिन आत्म शक्तियों को प्रकट करके ही विश्राम लेना है तो ऐसे दृढ़ संकल्प के समक्ष कोई विपदा या बाधा टिक नहीं सकती है। दुनिया उलट पुलट हो जाय परन्तु वैसे दृढ़ साधक की साधना कभी उलट पुलट नहीं हो सकती है। धार्मिक साधना तब आन्तरिक जीवन के साथ घुल मिल जाती है। यह साधना ऊपर की श्रेणी की है। वह आप कदाचित् नहीं कर सकें तो उतनी साधना करने में तो पीछे नहीं रहें, जितनी साधना आप अपनी वर्तमान सुविधा तथा निष्ठा से कर सकते हैं। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आध्यात्मिक साधना करना चाहते हैं तो थोड़ा सा मोह छोड़िये और उसको प्रेम में बदल कर संसार की सारी आत्माओं में बिखेर दीजिये। तब आत्मीय गुणों के विकास से धर्म साधना में आपकी तन्मयता बढ़ जायगी। इस तन्मय धर्म साधना का कार्यक्रम आप अभ्यास की दृष्टि से प्रति दिन एक घंटे भर के समय में भी रखें, तब भी आपके जीवन में काफी आत्मोन्मुखी प्रभाव दिखाई देगा। सारे पापों का परिपूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उससे निराशा लाने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन आप जितने पापों से बच सकते हैं उतने तो पापों से बचते रहें और भावना रखें कि एक दिन सारे पापों का परिपूर्ण त्याग भी करेंगे।

श्रोर साधना के समय को बढाते रहें । साधना कब करें श्रौर कब नहीं करें- इसका कोई प्रतिबध नही है । त्याग प्रत्याख्यान के लिये चौबीसों घटे उत्तम रहते है । श्राप तो प्राप्त श्रवसर को हाथ मे न निकलने दें श्रौर मोह को जीतकर मानव जीवन को सार्थक बना लें ।

आत्म शुद्ध्यर्थ सभी समय अच्छे है ।

त्याग श्रौर श्राध्यात्मिक जीवन की साधना जब भी करें तभी श्रच्छी है । मिठाई जब भी खाए, मीठी लगेगी । यह नही कि श्रमुक दिन खाए तो मीठी लगे श्रौर बाकी दिन नही लगे । श्राध्यात्मिक जीवन का रस सब दिन श्रच्छा । भगवान् महावीर ने कहा है कि—'समय गोयम मापमायए ।' लेकिन सभी दिनो के लिये श्रापकी तैयारी नही है तो श्राहिस्ता श्राहिस्ता ही श्रागे बढने की चेष्टा रखें । कुछ ऐसे व्रत श्रंगीकार करें कि जीवन का श्रधिकाधिक समय धर्म साधना मे लग सके ।

श्राप कहेगे कि तब दूज, पंचमी, श्रष्टमी, ग्यारस श्रौर चवदस–इन पांच तिथियो को विशेष महत्त्व क्यों दिया गया है ? इसका भी उद्देश्य है । कर्मों से पहाडो को छोटे रूप मे कहा जाय तो ये राग श्रौर द्वेष के पहाड है । जब दूज की तिथि हो तो सोचें कि राग श्रौर द्वेष को जीतना है । फिर पचमी श्राती है तो पाच ज्ञान को याद रखिये श्रौर श्रपने ज्ञान को निर्मल बनाइये । श्रष्टमी के दिन श्राठ कर्मों के श्राठ पहाडो को पार करने का सकल्प धारण कीजिये । कुछ न कुछ ऐसी तपस्या करिये कि कर्म नष्ट हो । ग्यारस के दिन ग्यारह श्रगो पर श्रध्ययन, मनन श्रौर चिन्तन करें तो चवदस के रोज चवदह गुणस्थानो पर ध्यान देकर श्रपनी श्रात्मा के गुणस्थान को पहिचानें श्रौर ऊपर के सोपानो पर चढने का प्रयत्न करते रहे ।

कर्मों के पहाडों को जिस दिन जीत लेंगे, तभी श्रापको श्रात्मज्योति के दर्शन हो जायेंगे । एकदम इन पहाडो को नहीं लाघ पायेंगे । पहले कदम उठावें, दो चार कदम चलें श्रौर साहस व धैर्य के साथ निरन्तर श्रागे बढते रहे । तब एक दिन चरम श्रवस्था मे श्रात्म–साक्षात्कार हो जायगा ।



सुसंस्कारो की महती आवश्यकता !

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव ॥

आध्यात्मिक दृष्टि से जब जीवन मे विकास करने का प्रश्न आता है तो ज्ञान और विवेक के साथ यह अन्तश्चेतना सन्नद्ध हो जाती है । उस समय इस चेतना की चमक कुछ निराली ही होती है । उसको श्रेष्ठतम ज्ञान का ही खयाल आता है तथा उत्तम श्रेणी मे पहुचने की भावना रहती है । वह नीचे के स्तर से उन्नति करती हुई उत्तर से ऊपर चढती जाती है । ऐसे क्षणो मे ही जीवन का तेजस्वी रूप बाहर अभिव्यक्त होता है । जीवन की आन्तरिक शक्तियाँ ही वाणी के द्वारा बाहर प्रकट होकर समग्र जीवन को एक नये ओज से सजा देना चाहती है ।

है। उसकी संस्कारशीलता उसको आध्यात्मिक साधना में अग्रगामी बनाती है। इसी कारण उसकी अपने स्वरूप के प्रति तथा परमात्म स्वरूप के प्रति अभिरुचि एव आस्था बनती है वह तभी परमात्मा की प्रार्थना की तरफ आकृष्ट होती है। परमात्मा की प्रार्थना–उनकी स्तुति इसी संदर्भ की एक पूर्ति का काम करती है। प्रभु की प्रार्थना किसी याचना की दृष्टि से नही की जाती है। उसमे किसी लालसा या कामना की पूर्ति का भी भाव नही होता है। वस्तुत जब आत्मा की दबी हुई शक्ति उभर कर प्रकट होना चाहती है तो वह अपने विकास का आदर्श ढूढती है, वह आदर्श उसको परिपूर्ण विकास युक्त परमात्म स्वरूप मे दिखाई देता है। तब उस आत्मा के अपनी कोमल वय मे अर्जित सुन्दर सस्कार उसको उस आदर्श का अनुसरण करने को प्रोत्साहित करते हैं। फिर मन मस्तिष्क मे तीव्र उत्सुकता जागती है और वह आत्मा लालायित हो उठती है कि वह परमात्मा के दर्शन कर ले।

परमात्मा के दर्शन के लिये वह सजग आत्मा छटपटाती है। उसी छटपटाहट को कवि ने इस प्रार्थना की पक्तियो मे व्यक्त की है—

दर्शन दर्शन रटतो जो फिरुं,
तो रण रोझ समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी
किम भाजे विष पान॥

आत्मा की वैसी व्यग्रता बडी अनोखी होती है कि वह दर्शन की रट लगाने लग जाती है। उसकी यह दर्शन की आकाक्षा साधना के विविध रूपो मे प्रकट होती है और उसके जीवन के सारे कार्यकलापो मे एक यही रट मुख्य बन जाती कि परमात्मा के दर्शन कब और कैसे हो?

वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा के दर्शन और कुछ नही, अपनी ही आत्मा के दर्शन हैं। आत्मा की जाग्रति, आत्मा की शुद्धता एव आत्म-स्वरूप का प्रकटीकरण जब साधक अपने स्वय के जीवन मे देखने लगता है तो उसकी निर्मल आत्मा मे ही परमात्मा का प्रतिबिम्ब झलकता है उस रूप का आत्म दर्शन ही परमात्म दर्शन होता है क्योंकि यह आत्मा ही तो सर्वशुद्ध स्वरूप प्राप्त करके परमात्मा बन जाती है। इसी कारण जो अपनी आत्मा को सम्पूर्ण रूप से देख लेता है, वही परमात्मा के भी सम्पूर्ण रूप से दर्शन कर लेता है। जिसने परमात्मा के परिपूर्ण रूप से दर्शन किये, उसके लिये यही माना जायगा कि उसने परिपूर्ण रूप से अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है।

महावीर प्रभु का दिव्य उद्घोष :

जे एगं जाणई, ते सव्वं जाणई ।
जे सव्वं जाणई, ते एगं जाणई ॥

जिस साधना ने एक विषय को समग्र रूप से जान लिया, उसने समग्र रूप से सारे संसार को जान लिया और समग्र रूप से सारे संसार का जानने वाला ही एक को समग्र रूप से जानता है । यही स्थिति आत्मा की इस अवस्था के साथ लागू होती है कि जो एक अपनी आत्मा को समग्र रूप से जान लेता है वह समग्र विश्व को समग्र स्वरूप से जान लेता है ।

कवि ने इसी उद्घोषणा को भावों में गूंथ कर कहा है कि आत्म स्वरूप को जानने की अभिलाषा रखने वाला साधक परमात्म दर्शन की रट लगाता रहता है । कल्पना की गई है कि इस तरह की रट लगाने वाला अपने को जंगली रोझ के समान बतलाता है । यह जंगली रोझ जंगल में इधर-उधर भटकते रहने वाला जानवर होता है जो भटकता ही रहता है, कहीं निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचता । साधक यदि ऐसा हो कि वह बाहर से तो परमात्मा के दर्शन की रट लगाता रहे और भीतर में अपने अन्तःकरण को पवित्र बनाने का कोई प्रभावशाली प्रयास नहीं करे तो उस साधक की तुलना जंगली रोझ से की गई है । कोरी बाहरी रट का क्या उपयोग ? वह तो भटकाव जैसी ही बात होती है । जो साधक परमात्मा की स्तुति को शब्दों के उच्चारण के साथ-साथ अपनी ही आन्तरिकता में प्रवेश करने की कोशिश नहीं करता, स्वयं की जीवनी शक्तियों को तौलना नहीं सीखता, वह किस अवस्था में चल रहा है-यह उसकी आत्मालोचना का विषय होना चाहिये ।

तीव्रता से हटा पा रहा है या आत्म स्वरूप वैसा का वैसा मलिन बना हुआ है इस प्रकार की आत्मालोचना साधक के अन्तर्मन मे चलती रहनी चाहिये और इस रूप मे ही वह अपनी आत्मा को उसके मूल स्वभाव की दिशा मे गतिशील बना सकता है ।

जीवन की वर्तमान पद्धति की मीमांसा करते समय साधक तो क्या, एक सामान्य जन को भी आत्मालोचना से प्रारभ करना चाहिये । मनुष्य की यह साधारण आदत बन गई है कि वह दूसरो के तिल जितने अवगुण भी देख लेता है, लेकिन अपने पहाड़ जितने अवगुण भी उसको दिखाई नही देते । नीतिकार ने कहा भी है—

खल। सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो विल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।।

अर्थ—दुर्जन दूसरों के सर्षप जितने अवगुण छिद्र भी देखता है-निन्दा करता है । और स्वयं के विल जितने छिद्रो (अवगुणो) को देखता हुवा भी नहीं देखता है अर्थात् उन्हे दबा (छिपा) लेता है । दोष दर्शन वास्तव मे अपना पहले होना चाहिये और अपने दोषो को पहले दूर करने की प्रवृत्ति बननी चाहिये । जो व्यक्तिगत जीवन को समझ लेता है, और सुधार लेता है, वही सामाजिक या सामूहिक जीवन की आलोचना करने का सच्चा अधिकारी होता है ।

आत्म निरीक्षण करें :

इस दृष्टि से आत्मालोचन एव चिन्तन के संस्कारो का निर्माण जीवन के प्रारभ से ही करना शुरू कर देना चाहिये । तभी आत्मा के अनादिकालीन विकृत स्वभाव अथवा विभाव को परिवर्तित कर सकेंगे तथा उसको मूल स्वभाव से पकडने की प्रेरणा दे सकेंगे ।

यह ध्यान मे लेने का तथ्य है कि आत्मा का निजी स्वभाव विस्मृति का नही है । उसका मूल स्वभाव राग-द्वेष का नही है, न ही वह काम, क्रोध, मद, मत्सर अथवा तृष्णा का है । लेकिन ससार मे परिभ्रमण करने वाली आत्माओं ने इस प्रकार के विभाव को ही अपना रखा है—विकारो से अपने स्वभाव को कलकित बना लिया है। वह अपने स्वभाव का अस्तित्व इन विकारो मे ही मानने लग गई है, जबकि वस्तुत ऐसा स्वभाव आत्मा का अपना स्वभाव नही होता है । लेकिन विकारो का साथ इतने लम्बे समय से कर रखा है कि उसकी समझ में विभाव ही उसका स्वभाव बन गया है । जैसे सस्कार मानस

पटल पर अंकित होते है, वैसा ही स्वभाव तथा कार्य प्रणाली का रूप सामने आता है। आत्मा की विकारो मे रचने-पचने की आदत हो गई है। जब आदत पड जाती है किसी भी बात की तो उसका छूटना थोडा कठिन हो जाता है। एक व्यक्ति किसी वस्तु विशेष के साथ में रह कर जब सम्पर्क बढ़ा लेता है तो उसे निज की अनुभव कर लेता है—वह अनुभव चाहे गलत ही हो। वह गलत अनुभव भी थोडे समय में उसकी आदत में बदल जाता है और तब वह यह सोच बैठता है कि ऐसा तो उसका अपना स्वभाव ही है।

जीवन इस रूप मे नहीं ढले कि वह गलत को सही समझने लग जाय-इसी के लिये आत्मालोचन तथा आत्म-चिन्तन की आवश्यकता होती है। व्यक्ति प्रतिदिन के अपने विचारों एव कार्यों की प्रतिदिन आलोचना करले तो उसकी समझ मे बना रहता है कि वह सही दिशा में चल रहा है या गलत दिशा मे जा रहा है। इस प्रकार के सस्कार आयु मे प्रौढता आने पर जरा कठिनाई से ढलते हैं। इसलिये उनका निर्माण कोमल वय से करना शुरु कर दिया जाय तो ऐसा सस्कारी बालक आगे जाकर अच्छा नागरिक और अच्छा साधक बन सकता है। उन सस्कारो का यह प्रभाव रहता है कि वह सदा अपने जीवन को भीतर बाहर से देखता रहता है और उसमें विवेक पूर्ण परिवर्तन लाता रहता है। कैसी आदतें बन रही हैं—इस ओर उसका सतर्क ध्यान रहता है और एक भी बुरी आदत को पास मे नहीं आने देता है। आत्मालोचन एव आत्म-चिन्तन का ऐसा ही सुपरिणाम जीवन मे परिलक्षित होता है।

आप ही अपने जीवन को देखिये। ससार के विभिन्न प्राणियो के बीच में आप को तरह-तरह की आदतें दिखाई देती हैं। ये कहां से पैदा होती हैं? बच्चा जब जन्म लेता है, तब उसको कोई दुर्व्यसन की आदत नहीं होती है। जन्मते ही दूध पीने की उस की आदत अवश्य होती है। वह माता का स्तनपान करता है। प्रारभ मे चाहे वह किन्ही भी माता-पिता का बालक क्यो न हो — निरामिष भोजी का हो या सामिष भोजी का—बालक तो मास खाने से अपने भोजन की शुरूआत नहीं करता है। वह दूध पीता है और दूध से ही बढता है। दूध सात्त्विक वृत्ति का भोजन माना गया है तो उसी के अनुरूप उसका बचपन का जीवन ढलता है। एक बालक का जीवन निर्लिप्त होता है, उसके मन मे विकार जाग्रत नही होते इसलिये वह भव्य मालूम होता है।

वही बालक आगे जाकर अपने जीवन का रूप कैसा बना लेता है, क्या-क्या आदतें पकड लेता है और इस निर्माण में सस्कारो का कितना महत्त्पूर्ण प्रभाव होता है? इस विषय को गहराई से समझना चाहिये क्योंकि कोमल वय मे

बालक को जिस प्रकार के संस्कारों का वातावरण मिलता है, उसी के अनुरूप वह अपनी आदतें बनाता है और जीवन की गतिविधि को ढालता है। इसलिये समाज और राष्ट्र मे अनुकूल वातावरण बनाने का दायित्व प्रौढो पर आता है। इस दायित्व-निर्वाह की दशा पर ही वातावरण और सस्कार का निर्माण निर्भर करता है।

बालक में अनुकरणशीलता की प्रधानता :

बच्चा जब कुछ बडा होता है तो वह बडो के सम्पर्क मे आता है। माँ के सिवाय वह परिवार आदि के अन्य लोगो के हाथों मे भी जाने लगता है। जिन लोगो के सम्पर्क मे जाता है, उनके क्रिया-कलापो को वह देखता है तथा उन सस्कारो को वह अपनाता है। एक बालक की ग्रहण शक्ति बहुत तीव्र होती है और वह जो देखता है याने कि उसके चारो ओर जैसा वातावरण होता है उसी से वह अपने सस्कार ग्रहण करता है। यदि उसके माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य मास भक्षी हैं, फिर भी उस बालक को पहले पहल मास भक्षण बडा अटपटा लगता है, लेकिन वैसा भोजन घर मे निरन्तर बनते रहने पर वह भी मास भक्षी हो जाता है। मास भक्षण की इस रूप मे खराब आदत बनने मे बच्चे का दोष नही हाता है, घर के वातावरण का दोष होता है। यह आदत बन जाने के बाद फिर बच्चे को मांस भक्षण छोडना कष्ट प्रद हो जाता है क्योंकि वह भी आदत मे मजबूर हो जाता है।

सस्कारो के निर्माण का क्रम जो चलता है, वह प्रारभ से चलता है। जो शुभ भी होता है तो अशुभ भी, जैसे मास भक्षण, मदिरा सेवन अन्य दुर्व्यसन कुशील, दुश्चरित्रता आदि भी होता है। जैसा कि मैं बता चुका हू कि जन्म के समय बालक मे स्वाभाविक पवित्रता रहती है। फिर वह अपने आस-पास के लोगो से तथा वातावरण से संस्कार पकडता है। जैसा देखता है, उसे वह अपना लेता है। जो कहा जाता है उसकी तरफ उसका ध्यान कम और जो देखता है, उसको पकडने की तरफ उसका ध्यान ज्यादा जाता है। इसी दृष्टि से कहा जाता है कि बालक को सुसस्कारी बनाने के लिये घर और समाज के वातावरण को सस्कार सम्पन्न बनाया जाना आवश्यक है। एक पिता बीडी या सिगरेट पीता है तो उसके यह कहने का कि बीडी सिगरेट नही पीनी चाहिये बच्चे के मस्तिष्क पर नगण्य सा प्रभाव पडता है। वह पीते हुए पिता को देखकर स्वय भी पीना चाहेगा। ऐसी ही वृत्ति अन्य दुर्व्यसनो के सम्बन्ध मे भी रहती है।

बालक मे अनुकरण की भावना बलवती होती है। दुर्व्यसनो और पर-पदार्थों मे रमते हुए लोगो को देखकर उसमे भी वे ही सस्कार जन्म लेते

हैं। हां, यदि माता-पिता सच्चरित्र एवं सुसंस्कारी हों तथा घर का वातावरण संस्कार सम्पन्न हो तो बालक उन सुन्दर संस्कारों के सुप्रभाव से आगे चलकर प्रतिभाशाली, तेजस्वी और आत्माभिमुखी निकलता है। वह आत्मा के विभाव को छोड़ता है और स्वभाव को प्राप्त करने में यत्नशील बनता है।

इससे क्या परिणाम निकला? यही कि बचपन की कोमल अवस्था होती है और वही बच्चे की शुद्ध अवस्था होती है। इस बाल्यकाल में जीवन के विकास की सही भूमिका बन सकती है, जिसके लिये संस्कार निर्माण के क्रम को श्रेष्ठता में ढालना आवश्यक होता है।

संस्कार निर्माण कब तक।

ज्ञानियों एवं फिलहाल वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से एक बालक की कोमल वय अथवा शुद्ध अवस्था करीब ७ वर्ष की आयु तक चलती है। भगवान् महावीर ने भी इसका संकेत दिया है तथा आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं का भी यही मत है कि सात वर्ष की आयु तक जितने संस्कार जिस रूप में बच्चे को मिलेंगे, वे संस्कार उसकी सत्तर वर्ष की आयु तक घुलते जायेंगे और आगे चलकर उनमें परिपक्वता आ जायगी। कई वक्त बचपन में पड़ी हुई बुरी आदतों से ८०-९० वर्ष की आयु हो जाने पर भी पीछा नहीं छूटता है। जिन व्यक्तियों की प्रकृति बड़ी अवस्था में विषम दिखाई देती है उनके लिये मान्यता यह है कि कोमल वय में उन्होंने विषम संस्कार पाये होंगे जो सारे जीवन के साथ चल रहे हैं।

ज्ञानीजन का इस दृष्टि से निर्देश यही है कि जब तक बालक की कोमल वय चलती है तब तक उसको सुन्दर से सुन्दर संस्कार दीजिये। उसको सुन्दर से सुन्दर पवित्र वातावरण में रखिये। यदि वह उस पवित्रता को ग्रहण करते हुए बढ़ता गया तो न केवल परिवार के लिये, समाज या राष्ट्र के लिये, बल्कि सारे विश्व के लिये वह महापुरुष बन जायगा। विश्व का श्रेष्ठसम्मान उसे मिल सकेगा। उसके जीवन की वैसी दशा एक प्रकार से अपूर्व होगी। इस अपूर्व दशा के जीवन के साथ-साथ जिस स्थल पर वह जन्मा है, जिस परिवार में उसने संस्कार पाये हैं—उन सबका गौरव संसार में चमकेगा।

सुसंस्कारों का निर्माण—यह ऐसा विषय है जिसके बारे में तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करें एवं आध्यात्मिक विचार से सोचें तो इस कार्य के द्वारा आने वाली एक नहीं कई पीढ़ियों की आध्यात्मिक शक्ति उपार्जित करने में सुन्दर सहयोग देने का अपूर्व अवसर मिलता है। वैसे सुसंस्कारों का निर्माण-

यह आज के समाज की महत्त्वपूर्ण समस्या भी है, जिसको सुलझाने की जिम्मेवारी सभी प्रबुद्ध लोगो पर है, क्योकि कोमल वय मे आपने घर और समाज मे बच्चो को सुन्दर से सुन्दर सस्कार देने का सुप्रबन्ध कर लिया तो समझिये कि इस नई पीढी के माध्यम से आप आने वाली कई पीढ़ियो को सुसस्कारी तथा सामाजिक वातावरण को सस्कार सम्पन्न बना सकेंगे ।

बच्चों को आध्यात्मिक शाला में बैठाइये :

बच्चो को कोमल वय मे अधिक से अधिक समय तक इस आध्यात्मिक पाठशाला मे बैठाइये । लेकिन इससे पहले आपको अपनी आदत देखनी पडेगी कि कही आप स्वय इस आध्यात्मिक पाठशाला मे आने से सकोच तो नही करते है । कई बडे लोग भी सामायिक करने मे साधना की पोशाक पहिनने से शर्माते है जो उचित नही है । साधना की पोशाक मे बैठने का अर्थ सादगी लाना होता है और सादगी की भावना भी सुसस्कारो से ही बन सकती है वरना फैशन और फेसिलिटी के पीछे सभी दौड ही रहे हैं । इसी फैशन-परस्ती के सस्कार जब आप लोगो के बालक पर पडते हैं तो उनकी रुचि फैशन मे और भी गहरी हो जाती है । सिनेमा मे कोट की नई फैशन देखते हैं तो वैसा ही कोट वे भी बनवाते हैं । बालो के फैशन की नकल तो गाव-गांव मे फैल गई दिखती है । माता-पिता पहले तो यह नही देखते कि उनकी स्वय की आदतें कैसी हैं और उनका असर उनके बालको पर कैसा पडेगा तथा बाद मे बालको की बुरी आदतो के क्या परिणाम निकलेंगे एवं उनसे समाज और राष्ट्र की कितनी क्षति होगी—इस पर भी गहरा विचार नही करते हैं ।

आजकल देखते हैं कि सामाजिक वातावरण बडा विकारपूर्ण बन गया है अत जिन बच्चो को घर मे अच्छे सस्कार नही मिलते हैं, वे स्कूलों व कॉलेजों मे जाकर आवारा बन जाते हैं और परिवार, समाज तथा राष्ट्र के नाम पर धब्बा लगाते हैं । कुछ लडके तो कलक के रूप बन जाते हैं । ये सारी दशाए चल रही हैं, फिर भी परिवार के मुखियाओ की आखें नही खुलती हैं—यह चिन्तनीय विषय है ।

मैं सकेत दे रहा हू कि जिन व्यक्तियो को अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लेने की अभिलाषा होती है, वे अपनी आन्तरिक शक्ति को अपने सुसंस्कारित जीवन के माध्यम से प्रकट करने के लिये छटपटाते हैं और उसके लिये यदि उनको अनुकूल सहयोग मिल जाता है तो वे बहुत बडी उन्नति कर जाते हैं । यही सयोग प्रतिकूल मिलता है तो उनकी वह अभिलाषा भी समाप्त हो

जाती है तथा वे ह्रास की ओर चले जाते हैं। इसलिये आजकल समुन्नत शिक्षा पद्धति की दृष्टि से पहले बालक की रुचि देखते हैं और उसको उसकी रुचि के अनुकूल शिक्षा क्षेत्र में प्रवेश दिलाते हैं ताकि वह अधिक से अधिक प्रगति कर सके। बालक की अन्दर की रुचि का ज्ञान किये बिना यदि उसे अन्यान्य विषय दे दिये जाते हैं तो उसकी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आप भी इस आध्यात्मिक पाठ-शाला मे बैठिये और अपने कोमल वय वाले बच्चों को अधिक से अधिक समय तक इस पाठशाला मे बैठाइये ताकि वे सुन्दर सस्कार ग्रहण कर सकें तथा प्रारभ से ही श्रेष्ठ रुचि बना सकें। चातुर्मास का प्रसग है, उन्हें शास्त्रीय वाचन सुनावें—प्रवचन मे उपस्थिति रखें तथा आप सही दिशा निर्देश दें तो अभी पडे हुए सुसस्कार उनके जीवन को सुन्दर बना सकेंगे।

सुसंस्कार से आत्मा से परमात्मा तक:

कोमल वय मे बालको को आप अपने घर मे रखें तब उनके साथ व्यवहार मे सतर्कता बरतें और ऐसा कोई वातावरण नही बनावें जिससे वे बुरे सस्कार तथा बुरी आदतें बना सकें। उसके चरित्र निर्माण के विषय मे उसे सुन्दर कथा-कहानी सुनावें, इस आध्यात्मिक पाठशाला मे लावें एव धार्मिक क्रियाओ का अभ्यास करावें तथा हर समय उनके कोमल मन पर पवित्रता के सस्कार डालने की चेष्टा रखें। बालको मे यदि पवित्रता के सस्कार सुदृढ बन जाते हैं तो यह समझिये कि जीवन के सभी क्षेत्रो मे पवित्रता का प्रसार होना प्रारभ हो जायगा।

जिनका जीवन पवित्रता की दिशा मे गतिशील बन जाता है, उनका निज स्वरूप की तरफ बढने का प्रयास एक दिन अवश्य ही सफल होता है। आत्मा का ऐसा विकास इह लोक एव परलोक मे सर्वत्र शान्ति प्रदान करता है। आज यह मानव जीवन प्राप्त हुआ है तो इसको सार्थक बनाने का यही क्रियाशील उपाय है कि स्वय अपने सस्कारो को सुन्दर बनावें तथा कोमल वय के अपने बालको को सुन्दर से सुन्दर सस्कार देने की सावधानी रखें। इससे सामूहिक जीवन मे भी परिवर्तन एव नवीनता आती जायगी।

सुसस्कारी बालक आज तो बालक है लेकिन कल वह गुणशील नाग-रिक बनेगा, व्रतधारी श्रावक होगा और यह क्यो नही कल्पना करें कि वह साधना के मार्ग पर चलकर साधुत्व का पालन करता हुआ आत्म दर्शन की दिशा मे भी अग्रगामी बनेगा। पवित्रता के सस्कार ही उसको आत्म दर्शन करायेंगे और परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित बनायेंगे।

आत्मा का अमृत सरोवर

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव ।।

जीवन के अमृत को प्राप्त करने मे वही आत्मा सफल होती है, जिस आत्मा के भीतर अमृत की प्यास तीव्रता से जग उठी हो । अमृत की प्यास आत्मा और मन को लक्ष्य के प्रति एकदम एकाग्र बना देती है। वे चारो ओर के बाहरी वातावरण से खिचकर केन्द्रित हो जाते हैं और अपनी समग्र शक्ति से उस दिशा मे बढ़ने का प्रयास करते हैं, जिस दिशा मे आत्मा के लिये अमृत का सरोवर होता है।

अमृत-पान को उत्सुक बनी आत्मा अपने लक्ष्य के प्रति प्रस्थान करने से पहले यह नहीं सोचती कि मुझे इस मार्ग पर एकाकी ही चलना पडेगा । एकाकी रहकर भी वह रुकी रहना नहीं चाहती । वह चिन्तन करती है कि मेरी यह पिपासा मेरे पास सीमित है—अमृत मुझे अपनी साधना से प्राप्त करना है, लेकिन अमृत को प्राप्त कर लेने के बाद वह उस अमृत को लोकोपकार की दृष्टि से भव्य आत्माओ के बीच मे बिखेर कर मार्ग दर्शन की भावना भी रखती है । स्वय शुद्ध बन कर ही शुद्धता का मार्ग दिखाया जा सकता है—इस कारण वह अपने भीतर मे दृष्टिपात करती रहती है, अपने निज-स्वरूप पर ध्यान लगाती रहती है तथा वस्तु-स्वरूप की गहराई मे उतर कर तत्त्व को प्राप्त करने की आकाक्षा रखती है । ऐसी महत्वाकाक्षी आत्मा पग-पग पर पडने वाले विष से बचती है और अमृत की खोज मे अग्रसर बनती है ।

आत्मा के लिये अमृत क्या तथा विष क्या है ?

अमृत अलौकिक माना गया है इसलिए इस ससार के लिए मात्र उसकी कल्पना ही है, लेकिन विष तो ससार मे बहुत हैं और विष को सभी जानते हैं। यह भी जानते हैं कि इस शरीर पर विष का क्या प्रभाव होता है ?

विष मारक होता है तथा जिस किस्म का या जितनी मात्रा में कोई विष लेता है तो उसका शरीर उस रूप में हानि उठाता है। विष शरीर की नसों को जहरीली बना कर उन्हें क्षत-विक्षत कर देता है जिससे मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। इसके विपरीत अमृत के लिये माना जाता है कि उसको पी लेने वाला शरीर अमर हो जाता है—चिर यौवन उसे प्राप्त हो जाता है।

इस आधार पर आत्मा के लिये अमृत क्या और विष क्या होता है—यह विचारणीय विषय है। जीवन तत्त्व अमृत होता है और विष मृत्यु तत्त्व का नाम है, तो आत्मा का जीवन क्या और आत्मा की मृत्यु क्या—इसे भी समझ लीजिये। द्रव्य रूप से आत्मा कभी मरती नही—वह अविनाशी तत्त्व होती है। पर्याय की दृष्टि से आत्मा के जीवन-मरण की बात सोची जा सकती है जिसका सबन्ध शरीर पर्याय की अपेक्षा से है। आप जानते होगे कि उत्साह एवं कर्मठता की दृष्टि से कई बार किसी व्यक्ति के लिये कह दिया करते हैं कि वह तो जीता हुआ भी मरे के बराबर है याने कि उत्साह-हीन जीवन को मृत्यु के तुल्य कहा जाता है। इसी प्रकार महापुरुषों के लिये कहा जाता है कि वे मर कर भी अमर हो जाते हैं। मृत्यु के बाद भी अपने आदर्श से, अपनी वाणी से तथा अपनी तेजस्विता से जीवित रहते हैं।

तो आत्मा के इस रूप मे जीवन मरण की स्थितियां अलग होती हैं। आत्मा अपने स्वभाव की ओर गति कर रही हो—अमृत की पिपासा लेकर चल रही हो तब उसके लिये कहा जायगा कि वह जीवनमयी है और जब वह अपने स्वभाव को भूल कर विभाव मे रमण कर रही हो—पौद्गलिक ससार की मोह-माया मे डूबी हुई हो तब वह आत्मा विष पान कर रही होती है तथा विष पान मरण का ही प्रतीक माना जाता है। आत्मा के स्वभाव को जो सुरक्षित रखे उसकी निर्मलता मे अभिवृद्धि करे—वह आत्मा के लिये अमृत होता है। अत इस प्रकार की सारी साधना और आराधना अमृत रूप होती है जिसको सम्पादित करके आत्मा अपनी मलिनता को दूर करती है तथा अपने निर्मल स्वरूप के साथ अपनी आन्तरिक शक्तियों का प्रकटीकरण करती है। विष पीने वाली और उस रूप मे मरी हुई जैसी चलने वाली आत्मा, वह होती है जो ससार के राग, द्वेष, विषय, कषाय, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारो में रची-पची रहती है और मन, वचन, काया से संज्ञाहीन जैसी होकर कार्य करती है।

आत्मा के लिये क्या अमृत है और क्या विष है—उसे पहिचानने का यही मान-दण्ड है। आत्मा के स्वभाव को क्षति पहुंचाने वाला प्रत्येक विचार और कार्य विषमय कहलाता है और अमृत वह है जो अपने विभाव को समाप्त

करके अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित होते रहने तथा हो जाने के बाद आत्मा को आनन्द-रूप मिलता है। जैसे अमृत पीकर शरीर सदा यौवन और सदा जीवन को प्राप्त कर लेता है—यह माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा जब कर्म विलय कर परिपूर्ण ज्ञान के अमृत का पान कर लेती है तो वह सदा-सदा के लिये अजरामर हो जाती है तथा अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति तथा अनन्त ज्ञान मे लवलीन बन जाती है।

आत्मा का स्वभाव—अमृत और विभाव—विष

यह साधारण व्यक्ति की समझ मे जल्दी नही आता है कि स्वभाव और विभाव—दो अलग-अलग क्या होते हैं? अपना भाव होता है वह स्वभाव तथा दूसरे के भाव को पकड कर कोई चलता है तब उसके लिये कह सकेंगे कि वह विभाव मे चल रहा है। अब यह कैसे जाने कि आत्मा का अपना स्वभाव क्या होता है और कब वह विभाव मे चलती है ?

स्वभाव और विभाव के स्वरूप को इस दृष्टान्त से भलीभाति समझ लें। एक लकडी के टुकड़े का अपना भाव या स्वभाव पानी पर तैरने का होता है—इसे सभी जानते हैं। क्योकि जो भी लकडी के टुकडे को पानी के तालाब या हौज मे डालता है तो वह देख लेता है कि लकडी का टुकडा तले मे नही उतरता, बल्कि पानी की सतह पर ही तैरता रहता है। लेकिन जब उसी लकडी के टुकडे को दूसरे तत्त्व के भाव के साथ जोड दें और वह तत्त्व बलवान हो तो लकडी के टुकडे का स्वभाव दब जाता है और विभाव उस पर अपना असर जमा लेता है। और उसी लकडी के टुकडे को लोहे की पेटी में बन्द करदें और फिर पानी मे छोड दें तो वही लकडी का टुकडा सतह पर तैरने की बजाय तले मे जाकर डूब जायगा। यह क्यो हुआ ? क्योकि लोहे का स्वभाव डूबने का है, लोहे की पकड मे आकर लकडी का टुकडा भी लोहे का स्वभाव पकड लेता है तो वह भी डूब जाता है क्योकि उसने स्वभाव छोड दिया और विभाव पकड लिया।

इस तरह स्वभाव तैराता है और विभाव डुबोता है। स्वभाव अमृत होता है तो विभाव विष। स्वभाव धर्म होता है तो विभाव अधर्म। धर्म क्या होता है ? अपना कर्त्तव्य और वह कर्त्तव्य जिससे मनुष्य अपने स्वभाव को पकड सके—मनुष्यता धारणकर सके। आत्मा के सदर्भ मे अथवा किसी वस्तु के स्वरूप के सदर्भ मे धर्म की व्याख्या ही यह की गई है कि "वत्थु सहावो धम्मो"। जो वस्तु का मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म है। स्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना धर्माराधना कहलाती है। स्वभाव तभी प्राप्त होता है जब विभाव

को छोड देंगे वैसे ही जैसे अहि (सर्प) जन्म लेकर कंचुकी का त्याग कर देता है। क्योंकि अधर्म को त्याग कर ही धर्म पथ पर आगे बढ सकते हैं। अमृत पीने की पिपासा है तो विष पीने की आदत छोडनी पडेगी।

आत्मा का मूल स्वभाव भी लकडी के टुकडे की तरह तैरने का है। लकडी के टुकडे को अकेले अगर पानी के तले से भी छोडेंगे तो वह ऊपर उठ कर सतह पर पहुंच जायगा। उसी प्रकार आत्मा जब अपने कर्म-बंध-रूपी लोहावरणों से मुक्त होती रहती है तो ऊपर से ऊपर उठती चली जाती है। उन आवरणों से उसकी सम्पूर्ण मुक्ति ही उसका मोक्ष होता है। मोक्ष का अर्थ है छूट जाना-सभी कर्म बंधनो से छूट जाना। वह मुक्तात्मा अजरामर जीवन प्राप्त कर लेती है। वही उसका अमृत-सरोवर होता है तथा निज स्वभाव की परिपूर्ण प्राप्ति होती है, जहा से उसको फिर कभी मरण की ओर मुख नहीं करना पडता है क्योंकि उसका विष पीना पूरी तरह छूट जाता है। कर्म विष से आत्मा का संपूर्ण विनिर्मुक्त होना ही मोक्ष रूपी अमृत-सरोवर को प्राप्त करना है।

आत्मा की विभाव परिणति से हानि :

संसार के कष्टमय वातावरण मे आत्मा परिभ्रमण इस कारण से ही करती है कि वह अपने स्वभाव को भूल कर विभाव ग्रस्त बन जाती है। उसकी यह विभाव ग्रस्तता चेतन और जड के संयोग से होती है। चेतन का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होता है—आत्मा जब भी जितने अंशो मे अपने विभाव को छोडती है, वह ऊपर उठती है। यही उसका विकास कहलाता है कि वह उन्नति करे। उन्नति की पराकाष्ठा होती है उसकी विभाव से सम्पूर्ण मुक्ति और वही उसकी परिपूर्ण रूप से स्वभाव प्राप्ति की अवस्था होती है। चेतन का संयोग होता है जड के साथ-जो नश्वर होता है। आत्मा अविनाशी होकर के भी नश्वर जड के साथ जुड कर शरीर धारण करती है, अच्छे-बुरे कर्म करती है तथा उनके फलस्वरूप संसार के ऊंचे-नीचे स्थानो में भटकती है।

आत्मा की विभावग्रस्तता उसकी मूर्च्छा के कारण होती है। वह अपने स्वभाव को इसलिये भूलती है कि वह अपने ध्यान को बाहर केन्द्रित कर लेती है। संसार के बाहरी दृश्य उसके ध्यान को मोह लेते हैं। ये दृश्य ऊपर से बडे मनोहर, रमणीय तथा लुभावने होते हैं। मेरा शरीर, मेरे परिवार जन और मेरा धन व वैभव-इन सबमे आत्मा अपना ममत्व डाल देती है : यद्यपि ये सब आत्मा के मूल स्वभाव से सम्बन्धित नही होते, लेकिन इनके ममत्व मे पड कर वह अपने स्वभाव की सत्ता को शिथिल बना लेती है और

जड तत्त्व के स्वभाव को अपना लेती है । दूसरे तत्त्व के स्वभाव को पकड लेना—यही उसकी विभावग्रस्तता होती है ।

यह न समझें कि विभावग्रस्तता मे अपना निज स्वभाव नष्ट हो जाता है । होता यही है कि निज स्वभाव दब जाता है—विभाव के आवरण में बन्द हो जाता है । इसलिये स्वभाव तभी प्रकट हो सकता है जब विभाव के आवरण को हटा लिया जाय, जैसे कि लोहे की पेटी से बाहर निकाल देने पर ही लकडी के टुकडे का अपना स्वभाव असर दिखा सकेगा । इस कारण आत्मा द्वारा निज स्वभाव प्राप्ति की दिशा यही है कि वह अपने विभाव के आवरणो को हटाने का अथक प्रयत्न आरभ करे । यही सबसे बडी धर्माराधना है ।

स्वभाव प्राप्ति की दिशा इसी हेतु से आत्मोत्थान की दिशा मानी जाती है । स्वभाव क्या है—इसकी कसौटी स्वय आत्मा ही होती है । यदि प्रत्येक मनुष्य थोडा सा ध्यान रखे तो उसकी बाहर की इच्छा भले ही कुछ हो, लेकिन उसके अन्त करण से एक अलग ही आवाज उठती है और वह आत्मा की आवाज होती है—सही आवाज होती है । एक चोर चोरी करने के लिये निकलता है, तब भी उसके भीतर से उठने वाली आवाज उसको कुकृत्य करने से रोकती जरूर है । वह उसको नही मानकर चोरी करने के लिए निकल जाता है—यह दूसरी बात है । इसी आत्मा की आवाज को—चाहे वह क्षीण से क्षीण हो—पकडना, सुनना और उसका अनुसरण करना, यह स्वभाव प्राप्ति की दिशा में चलना होता है । यह क्षीण से क्षीण आवाज भी तब बल पकडती जायगी और सारे क्रिया-कलापो पर आत्मा के वर्चस्व को बढाती जायगी । आत्मा जब अपनी मूर्च्छा को घटा कर और हटा कर अपनी मूल सज्ञा को पकडने लग जाती है तो वह स्वभाव को भी समझने लग जाती है । एक बार अपना स्वभाव जिस आत्मा को समझ मे आ जाता है, वह उसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेने के लालायित बन जाती है । इसे ही आत्म-जाग्रति कहते हैं ।

तब जाग्रत-आत्मा अपने स्वभाव पर आये हुए आवरणो को हटाने मे कर्मरत बन जाती है । आत्म जाग्रति होती है, वही अमृत-पान की पिपासा है । अमृत की प्यास उसे ही लगेगी, जो विष को विष समझ लेता है । इसके बाद विष पान उस को कतई अच्छा नहीं लगता और वह उससे मुक्त हो जाना चाहती है । स्वभाव प्राप्ति की दिशा में फिर वह आत्मा आगे बढ जाती है ।

जेहने पिपासा हो अमृत नी, किम भाजे विषपान ?

जिस आत्मा को अमृत की पिपासा तीव्र हो उठती है, वह भला

विष पान की ओर प्रवृत्त कैसे हो सकती है ? संसार के मनोहर दृश्य दिखाई देते हैं, बाहर की रमणीयता की शोभा फैलती है, लेकिन ये सारे दृश्य अमृत पिपासु आत्मा को फीके मालूम देते हैं । पहले ये ही दृश्य उसको लुभा रहे थे, परन्तु जब से उस आत्मा ने अमृत-पान की अभिलाषा बनाई तब से वह उन दृश्यों के प्रति उदासीन बन रही है । वह सोचती है कि इन दृश्यों में उसके अन्तःकरण की तृप्ति का अनुभव नहीं होता है । यह स्वाभाविक है कि जिसकी जिस ओर लगन लग जाती है, उसका चित्त फिर दूसरी तरफ नहीं लगता है । उस आत्मा की भावना उस वस्तु को देखने की ही रहती है तथा वह उसकी खोज में एकाग्र बन जाती है । उस वस्तु के प्राप्त होने पर ही उसको सन्तोष मिलता है और जब तक उस की प्राप्ति नहीं होती है तो वह अपने आप मे छटपटाती रहती है । अमृत पान की पिपासा की छटपटाहट भी आत्मा को ऐसी ही होती है ।

किसी व्यक्ति को पानी की प्यास हो और उस को जहर का प्याला पिलाया जाय तो क्या जहर की घूंट से उसकी प्यास बुझ सकेगी ? उससे तो उसकी प्यास और अधिक भडक जायगी, शरीर के रोम-रोम में आग फूट जायगी । इस प्रकार की ही अवस्था आज इस आत्मा की बनी हुई है । यह आत्मा अपने आप मे शान्ति चाहती है, शीतलता चाहती है, सन्तोष चाहती है और परम-स्वरूप का आनन्द लेना चाहती है । लेकिन इन सारी भावनाओं से जिस वस्तु को भी वह ग्रहण करती है, जिसके साथ भी सम्पर्क बढाती है, जिसके लिये भी वह लालायित बनती है, वह वस्तु जब तक समीप में नहीं आती है, तब तक उसको प्राप्त करने की उत्कंठा बनी रहती है। किन्तु इच्छित वस्तु से जैसे ही सम्पर्क हो जाता है, वह पास मे आ जाती है तब उसे पता चलता है कि शान्ति पाने के लिये उस वस्तु की कामना की थी, लेकिन उसके पास आने पर तो अशान्ति बढ गई तो वह वस्तु शान्ति देने वाली कैसे हो सकती है ? तब विवेकशील जिज्ञासु वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निर्णय लेता है । लेकिन इस प्रकार का निर्णय भी ९९ प्रतिशत सामान्य जनता नहीं ले सकती है । वे लोग न तो इस कसौटी को समझ पाते हैं और न वस्तु स्वरूप पर निर्णय ही ले सकते हैं । उनको यह भी ज्ञान नहीं रहता कि इच्छित एवं प्राप्त बाह्य पदार्थ को पा जाने से आत्मा को कौन सी शक्ति मिली ? इसकी बात छोडिये, कई व्यक्ति तो इस तथ्य को भी नही समझ पाते हैं कि उन्होने कौन-कौन से पदार्थ खाए तथा उन पदार्थों का शरीर पर क्या असर पडा ? अच्छे लगे इसलिये खा गये, लेकिन वे शरीर के लिये हितकर थे या अहितकर—इसका

उनको भान नहीं होता है। फिर वे आध्यात्मिक मामलों के बारे में ध्यान रखें, आत्मा पर कर्मों के पडने वाले प्रभाव को समझें और आत्म-साधना की प्रक्रियाओं का अभ्यास करें—यह उनके लिये दूर की बात होती है।

यह सब ज्ञान और चिन्तन का विषय है। प्रार्थना मे कवि आनन्दघन जी ने इसी तथ्य की स्मृति दिलाई है कि—

> जेहने पिपासा हो अमृत पानी नी
> किम भाजे विषपान।
> अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये....

अतः अमृत की एक बार प्यास को जगा दीजिये वह प्यास प्रबल रूप धारण करके आत्मा की गति को विषपान से दूर हटा कर अमृत-सरोवर की दिशा मे अवश्य मोड देगी।

आत्मिक अमृत-पान की सच्ची जिज्ञासा :

अमृत-पान निज स्वरूप की लगन आत्मा को जब लग जाती है तो वह प्रत्येक वस्तु-स्वरूप मे अमृत की ही खोज करने लगती है और जिसमे उसको अमृत नही दिखाई देता, उसको वह निस्सार समझ कर त्याग देती है, चाहे लौकिकता मे उस वस्तु का कितना ही ऊंचा मूल्य क्यों न हो? यदि किसी आत्मा में सद्-विवेक जाग्रत होता है तो वह प्रत्येक वस्तु के सही स्वरूप को परख लेने मे समर्थ बन जाती है। उसको जो वस्तु सार पूर्ण लगती है, उसी को ग्रहण करने की उसकी प्रवृत्ति होती है।

रामायण मे एक रूपक आया है। जब सीताजी को खोजते-खोजते हनुमान जी लंका की अशोक-नवल वाटिका मे पहुचे तो वहां सीताजी को पाकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। सीताजी भी प्रसन्न हुईं कि राम की सूचना लेकर हनुमान जी आये हैं और वे उसकी रावण से रक्षा करेंगे। सीता ने विचार किया कि हनुमान का किस वस्तु से सत्कार किया जाय? आखिर उन्होने अपना कठहार खोल कर हनुमान को दे दिया। कठहार देख कर हनुमान को निराशा सी हुई, क्योंकि वे तो एक सच्चे भक्त थे और उनको तो कोई भक्ति सूचक उपहार चाहिये था। लेकिन उन्होने कठहार ले लिया और वहां से वापिस चले। वानर सेना साथ थी, उन्होंने सोचा कि हनुमान जी उन सब को भी कुछ न कुछ भेंट मे से देंगे। कुछ दूर जाकर वे कठहार के एक-एक रत्न को पत्थर से चूरा करने लगे। एक वानर ने उनको रोका यह आप क्या कर रहे हैं?

हनुमान जी ने बताया मैं तो राम का भक्त हूं, इस भेंट में राम को खोज रहा हू । मैं सोच रहा हू कि जिसकी भक्ति करने से मुझे सत्य और न्याय का मार्ग मिला है, उसको मैं कहीं रत्नों की चमक मे भूल न जाऊं ? इसलिये एक-एक रत्न को चूर्ण करके देख रहा हू कि कहीं किसी मे राम है, किसी मे सत्य है, किसी मे न्याय और नीति है ? यदि इस कठहार के रत्नों मे राम नहीं तो यह मेरे क्या काम का ? मेरी भावना राम को पाने की है-मेरी जिज्ञासा सत्य को देखने की है । मुझे ये रत्न सारहीन दिखाई दे रहे हैं ।

इस रूपक का तात्पर्य यह है कि जैसे हनुमान जी ने रत्नों में सत्य रूपी अमृत को देखना चाहा, क्योंकि राम और सत्य रूप-अमृत की ही उनको पिपासा थी वैसे ही क्या आज के भाई-बहिन आत्मा रूपी सत्य को देखने के लिये—निज स्वरूप रूपी अमृत का पान करने के लिये तीव्र पिपासा लेकर चल रहे हैं ? क्या कभी अपने कलेजे पर हाथ धर कर देखा है कि जिन पदार्थों को वे बडे चाव से अपनाते हैं, उनमें विष भरा हुआ है या कहीं अमृत का छींटा भी है ? मैं किससे पूछू ? आप सुज्ञ हैं । आप लोगो से पूछने की आवश्यकता नहीं है । आप स्वय अपने ही अन्त करण मे देखिये-वह आन्तरिकता के साथ क्या खोज रहा है और पा क्या रहा है ?

यह देखने की बात है कि यदि वास्तविक रूप मे अन्तरात्मा की पिपासा शान्त हुई है तो वह अमृत का छींटा है—अच्छी चीज मिल रही है, लेकिन जिन वस्तुओ को पाते वक्त हर्षित होते हैं तथा बाद मे दु ख अनुभव करते हैं तो सोचना चाहिये कि वह पिपासा को शान्त करने वाला अमृत नही है बल्कि विकारों की पिपासा को भडकाने वाला विष है । विवेकशील को तो वही वस्तु सारपूर्ण लगेगी, जिस वस्तु मे अमृत की अनुभूति होगी ।

जिसको अमृत-पान की पिपासा है, आत्मिक शान्ति की इच्छा है, उसको ससार के विषय कतई नही सुहाते, चाहे वे ससार के लिये कितने ही अच्छे लगने वाले क्यों न हो ? उसके लिये वे सब विष-पान के समान होते हैं । यह भावना आत्मिक दृष्टि से रही हुई है और आत्मिक दृष्टि ही जीवन की मूल दृष्टि होती है । इस मूल को जो पकड लेता है और उसमें किसी तरह की भूल नही करता है तो वैसा साधक अमृत रूप निज की साधना मे भी सफलता प्राप्त कर सकता है ।

आतरिक उद्गार और अमृतपान ।

मेरे स्वास्थ्य की वजह से मेरे पर ज्यादा बोलने की पाबन्दी है ।

चिकित्सकों की हिदायतें भी साथ-साथ रहती है और मेरे भाई भी उनके पीछे हो लेते हैं—कोई बात नही। मैं अपनी प्यास को बुझाने के लिये एकान्त में बैठकर चिन्तन करूं, वहीं बात कदाचित् आपके समक्ष थोड़े समय के लिये रखदूं। मैं सोचता हू कि जिस समाज के धरातल पर बैठ कर इस शरीर सम्बन्धी स्वस्थता मैंने प्राप्त की है—जिस समाज ने इस शरीर के लिये और जीवन के विकास के लिये अपना अनुदान दिया है, वह समाज मुझसे धन-दौलत या वैभव नही मांगता—कदाचित् भगवान् के वचनो का अर्थ मागता है तो कर्त्तव्य की दृष्टि से देने की आवश्यकता बन जाती है। इस कर्त्तव्य-दृष्टि से आपके समक्ष कुछ बोल जाता हू। अमृत की प्यास पर जब चिन्तन करना है तो सबके साथ ही वह चिन्तन करने की भावना बन गई।

मेरे भाई-बहिनों की भावना शुभ है और वे भी अमृत के प्यासे बनना चाहते हैं। देश के दूर-दूर के ग्राम-नगरो से वे यहां आये हैं तो कुछ अमृतमय तत्त्व ही ग्रहण करने आये हैं—तत्त्व व ज्ञान ग्रहण करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाने की भावना से ही आये हैं तो वे सन्तो के सम्पर्क मे आवें तथा अपनी अमृत-पिपासा की दृष्टि से कुछ आध्यात्मिकता में उतर कर सोचें।

विष पीते-पीते आत्मा का स्वरूप गहरा कालिमामय हो गया है, अब विष पीना छोड़ें, निज स्वरूप को उज्ज्वल बनावें और अमृत की प्यास को तीव्र करे ताकि एक दिन अमृत पीने को मिल ही जाये।



साधना की तन्मयता से आत्मदर्शन

> अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये दर्शन दुर्लभ देव ।
> मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव ।।

दर्शन भी एक महत्कार्य है। यह एक सिद्धि भी है । इस सिद्धि की प्राप्ति के लिये विशेष अनुसंधान की आवश्यकता होती है । किसी भी अनुसंधान अथवा शोध कार्य के लिये तन्मय बनना अनिवार्य है । तन्मयता से एकाग्रता उत्पन्न होती है और उसके माध्यम से यदि किसी भी प्रकार की सिद्धि को सिद्ध करना चाहें तो वह दुर्लभ या दुष्कर नहीं रहती है। जितनी गहरी एकाग्रता अथवा एकचित्तता होगी, सिद्धि उतनी ही सहज बनती जायगी ।

एकाग्रता का अभिप्राय ही यह होता है कि मन, वचन एवं काया की समस्त वृत्तियां तथा प्रवृत्तियां एकजूट होकर एक ही दिशा मे जब कार्यरत बन जाती हैं तो सम्पूर्ण पुरुषार्थ का नियोजन भी समर्थ हो जाता है । भावना सम्पन्न पुरुषार्थ कठिन से कठिन सिद्धियों को भी सुलभ बना देता है । इन सिद्धियो मे चाहिये एक निष्ठा, एक लगन और एक ही अर्पणा । समर्पण का भाव साधना मे प्रमुख होना चाहिए । समर्पण सच्चा बन जाय तो अन्य सिद्धियां तो ठीक हैं, लेकिन दर्शन की सर्वोच्च सिद्धि भी सहज और सुगम बन जाती है ।

जब तक समर्पण का भाव नहीं आता, साधना में श्रेष्ठता उत्पन्न नहीं होती है । समर्पण का अर्थ है लक्ष्य के प्रति अपने सर्वस्व को लगा देना—आंशिक नहीं सम्पूर्ण रूप से । अपनी जो अर्पणा होती है, वही समर्पण है समर्पित साधना से दर्शन की सिद्धि प्राप्त होकर ही रहती है ।

लक्ष्य की दृढता से कार्य मे गति :

लक्ष्य के प्रति डोलायमान निष्ठा नहीं होनी चाहिए । जब तक निष्ठा

डोलायमान रहती है, तब तक न समर्पण की भावना बनती है और न साधना की सुदृढ़ता । लक्ष्य के प्रति एक निष्ठा होनी चाहिए । यह एक निष्ठा कैसे होती है ? कल्पना करें कि आप को कहीं बाहर यात्रा पर जाना है और यात्रा की तैयारी करनी है । यदि आपके मन में निश्चय होगा कि यहां से बम्बई जाना है तो बम्बई जाने योग्य तैयारी की जायगी । तैयारी करने में भी असावधानी नहीं करेंगे क्योंकि लक्ष्य निश्चित है । यात्रा पर जाना तो है लेकिन बम्बई जाना है या कलकत्ता ? स्थान का, लक्ष्य का निश्चय नहीं होगा तब भी निष्ठा नहीं जमेगी । अब यात्रा के लिये जाना भी है और नहीं गये तो नहीं गये—ऐसे विचार से भी निष्ठा नहीं बनती है ।

निष्ठा को एक तथा सजग बनाने के लिये निश्चित लक्ष्य सामने होना चाहिये और उसके बाद समर्पण की भावना बननी चाहिये । लक्ष्य और समर्पण मिल कर निष्ठा को केन्द्रीभूत बना देते हैं । आपने कभी सोचा है कि आपका लक्ष्य क्या है ? रोज प्रवचन सुनते हैं न ? लक्ष्य है आत्म-दर्शन का क्योंकि जब आत्म-दर्शन हो जाता है तो परमात्म-दर्शन भी हो जाता है । लेकिन यह आत्म-दर्शन कैसे होगा ? आत्म-दर्शन के लिये आत्म-स्वरूप को पहिचानना होगा। उसे निर्मल बनाना होगा। आत्म-स्वरूप की मलिनता का परिमार्जन याने कि कर्म मैल का निवारण सामान्य कार्य नहीं होता है । इस लक्ष्य को निर्धारित करके समर्पण की भावना बनानी होती है – साधना की कर्मठता जगानी होती है । यह साधना जब एकनिष्ठ बन जाती है तो पुरुषार्थ का प्रयोग भी एकनिष्ठ बन जाता है । वैसी अवस्था में आत्म दर्शन की सिद्धि आसान हो जाती है ।

जब तक पुरुष एकनिष्ठ नहीं बनता है,—आत्मिक-स्वरूप की जाग्रति एवं शुद्धि को अपना निश्चित लक्ष्य नहीं बनाता है तथा स्वयं के परिपूर्ण विकास का ध्येय निर्धारित नहीं करता है, तब तक उसकी साधना सशक्त नहीं बन पाती है । वह व्यक्ति अपने मन में विविध कल्पनाएं रखता है और उसका चित्त भी चल-विचल होता रहता है । कभी वह सोचता है कि आत्म-शुद्धि के मार्ग पर चलूं तो कभी यह भी सोच लेता है कि सांसारिक उपलब्धियां प्राप्त हो जायं तो भौतिक सुखों का उपभोग कर लूं । तो ऐसा व्यक्ति अनिश्चय में पड़ा रहता है । जहां दो बातें होती हैं कि यह मिल जाय तो यह और यह नहीं तो वह सही—ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में बड़ी तो क्या छोटी सिद्धि भी उपलब्ध नहीं कर सकता है ।

सिद्धि के लिये इन तीन बातों का सद्भाव आवश्यक है । एक, लक्ष्य

सुनिश्चित हो। दो, समर्पण की भावना लक्ष्य के प्रति अडिग बन जाय और तीसरी बात है कि लक्ष्य की ओर गति करने की एक निष्ठा हो। एक के प्रति निष्ठा एकनिष्ठा कहलाती है।

कठिनता स्वयं के जीवन में :

यदि यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर पहुचना है और चलने की भावना भी प्रबल बन जाय तो सही मार्ग का पता लगा कर फिर गन्तव्य स्थान तक पहुचने की धुन लग जाती है। फिर मन मे भी उत्साह रहता है और पैरो में भी ताकत पैदा हो जाती है। लेकिन इसके विपरीत यही निश्चय नही हो कि कहा जाना है तो भला चलने की भावना ही कैसे बनेगी और कैसे सही मार्ग की खोज करने की आकाक्षा होगी ?

इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति कठिन नही होती है। कठिन होता है लक्ष्य का निर्धारण, कठिन होती है मार्ग की खोज तथा कठिनता से बनता है न डिगने वाला सकल्प। इसका अर्थ हुआ कि कठिनता स्वयं के जीवन मे है। जीवन मे जो अनिश्चय की मनोवृत्ति होती है तथा निष्क्रियतापूर्ण गतिविधि बनी रहती है, वही लक्ष्य को निर्धारित नहीं करने देती है। लक्ष्य का निर्धारण भी कर लिया जाता है तो उसके निश्चय की भावना नहीं बनने देती है, जिसके कारण न तो समर्पण का भाव बनता है और न ही चित्त की एकाग्रता का निर्माण। नीचे की यह सारी पृष्ठभूमि बन जाय तो लक्ष्य की प्राप्ति एकदम सहज हो जाती है।

आत्मिक स्वरूप की मूल उज्ज्वलता को प्राप्त करने का जो लक्ष्य आपके समक्ष रखा गया है, यदि उसके प्रति अनन्य भाव है तो उसके सिवाय अन्य भाव को छोड देना चाहिये। अन्यान्य भावो की जकड से मुक्त होंगे तभी अनन्य भाव का अनुसरण किया जा सकेगा। सासारिकता की ओर खींचने वाले भाव जो आत्मा को उसके विकास के सही मार्ग से पीछे धकेलते हैं। तो इन सांसारिकता की दलदल मे फसाने वाले भावो को हटाना होगा। इनसे विरक्त बनना पडेगा तथा विरक्ति भी अधूरे मन वाली नहीं होनी चाहिये। यह विरक्ति की भावना सर्वथा बने। सर्वथा विरक्ति हो तथा लक्ष्य के प्रति स्वय का समग्र रूप से समर्पण हो तो दर्शन की सिद्धि सुलभ बन जायगी।

वस्तुत जीवन मे आत्मोत्थान के लक्ष्य के प्रति सच्ची अर्पणा और निष्ठा का निर्माण ही बडा कठिन कार्य होता है। मन की समस्त वृत्तियां तथा वचन एव व्यवहार की सारी मनोवृत्तियां जब एकनिष्ठ बन कर निर्धारित लक्ष्य

तक पहुंच जाने के लिये संकल्प बद्ध हो जाती है, तभी समर्पण की आन्तरिक अवस्था प्राप्त हो सकती है। जहां समर्पण हो जाता है, वहां साधना मुश्किल से ही डिगती है और साधना की सफलता आत्म-शुद्धि के रूप में ही प्रकट होती है। सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि ही लक्ष्य प्राप्ति की चरम स्थिति होती है। इस दृष्टि से स्वयं के जीवन को देखने तथा उसको लक्ष्य की दिशा में गतिशील बनाने का काम ही मुख्य रूप से कठिन होता है। यह कठिनता स्वयं के जीवन में है, यह समझ कर समुचित पुरुषार्थ किया जाना चाहिये।

एक लक्ष्य बने :

भगवान् के दर्शन कठिन नहीं, आत्मा से साक्षात्कार भी कठिन नहीं, लेकिन स्वयं की तैयारी नहीं होती है—यही सबसे बड़ी कठिनता है। मूल स्थिति तो यह होती है कि कार्य छोटा हो या बड़ा, उसको कर लेने में मन में कोई दुविधा नहीं हो तथा समग्र भाव से उसको करने की तल्लीनता बन जाय तो उस कार्य की सिद्धि में कोई शंका नहीं रहेगी। यह तल्लीनता समग्रभावेन होनी चाहिये। इस प्रकार से कार्य सिद्धि करने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में रही हुई है और प्रत्येक आत्मा अपनी परिपूर्ण शक्ति को इस रूप में अभिव्यक्त कर सकती है।

यों प्रत्येक आत्मा अपनी कार्य-शक्ति का प्रयोग किसी न किसी स्तर पर तो करती ही है, किसी की कार्य-शक्ति विकसित होती है, किसी की अल्प-विकसित या पिछड़ी हुई। न्यूनाधिक रूप से तो प्रत्येक आत्मा में कार्य-शक्ति विकसित होती है। इसी कार्य-शक्ति के कम अंशों से अधिक अंशों में तथा अधिक अंशों से परिपूर्ण रूप में विकास की ही समस्या है। इस कार्य-शक्ति का विकास ज्ञान एवं विवेक के साथ आत्म-पुरुषार्थ को जगाने से होता है। यह पुरुषार्थ की कर्मठता पर आधारित रहता है कि कौन आत्मा कितने समय में अपनी कार्य-शक्ति का किस रूप में विकास कर सकती है?

आपको स्वयं को ज्ञात होना चाहिये कि आप की आत्मा में उस कार्य-शक्ति का कितना विकास उपलब्ध है तथा उस विकास से क्या अपनी लक्ष्य सिद्धि संभव है? यह परीक्षा आपको ही करनी होगी। परमात्मा के विषय में संभव है कि कुछ दुविधा हो, मन में कुछ चल-विचलता हो तथा आपकी निष्ठा में भी शायद कुछ अन्तर हो। इसका कारण है कि अनेक तरह के मत-मतान्तरों को श्रवण करने का प्रसंग आता है। उस दृष्टि से इस प्रसंग के सम्बन्ध में मन में शंकाएं-विशंकाएं पैदा हो सकती हैं और यह विचार आ सकता है कि कहीं आत्मा का ही अस्तित्व है या नहीं। कुछ व्यक्ति आत्मा का

अस्तित्व ही नहीं बनाते हैं तो आत्मसिद्धि के कार्य में कैसे लगें ? दुविधा में पड़ा हुआ व्यक्ति यह भी सोच सकता है कि 'जिस आत्मसिद्धि की बात का पक्का पता ही नहीं चल रहा है और उसके पीछे पड़ूंगा तो भौतिक सामग्रियाँ भी हाथ से निकल जायेंगी । ऐसी कुशका में लक्ष्य का समझना ही कठिन हो जाता है, उसको निश्चित बनाना तथा उसको प्राप्त करने के लिये समर्पित हो जाना दूर की बात है ।

ऐसी दुविधाओं की परिस्थितियों में जिसका मन डोलता रहता है और आत्मा के अस्तित्व के बारे में विश्वास पैदा नहीं कर सकता है तो उसके अन्तःकरण मे तल्लीनता कहां से पैदा होगी ? वह यह नहीं समझता कि अमुक व्यक्ति कहता है—आत्मा है और अमुक व्यक्ति कहता है—आत्मा नहीं है तो इन दोनों में से किस के मत पर निर्णय करना चाहिये अथवा अपने ज्ञान की कसौटी पर आत्म तत्त्व की अनुभूति लेनी चाहिये ? दुविधाओं से दूर होंगे तथा आत्म-विश्वास पैदा करेंगे, तभी समग्र भाव से तल्लीनता की अवस्था का निर्माण हो सकेगा ।

आत्मा का अस्तित्व :

आत्मा के अस्तित्व पर ही जब तक विश्वास नहीं होगा तो आगे की साधना की सम्पूर्ण प्रक्रिया का तो प्रश्न ही कहां उठता है ? लेकिन यह भी सोचने की बात है कि आत्मा के अस्तित्व का निर्णय कौन करेगा ? क्या कोई दूसरा करेगा या आप स्वयं करेंगे ? यह निर्णय होगा, तभी लक्ष्य का निर्धारण हो सकेगा ।

इस दृष्टि से इस रूप में चिन्तन करने की आवश्यकता है कि मैं स्वयं देखूं कि मैं हूं या नहीं ? यदि मैं नहीं हूं तो मैं हूं—यह कौन कह रहा है ? यह प्रश्न कौन उठा रहा है कि मैं हूं कि नहीं ? यह किसके मन में प्रश्न उठता है ? यह प्रश्न किसका है—इस बात का तो निर्णय कर लीजिये । यदि इस तथ्य का निर्णय आपको स्वयं को हो जाय कि मैं हूं—मेरा अस्तित्व है—मेरा रूप नकारात्मक नहीं है तो यह अस्तित्व किसका है ? इस विषय के वस्तु स्वरूप की दृष्टि से 'मैं हूं'—अहंकार की दृष्टि से नहीं । मेरा अस्तित्व है लेकिन दूसरों के अस्तित्व को दबोचने के लिये नहीं है—सताने के लिये नहीं है लेकिन अन्यों के साथ अन्यों के अस्तित्व को स्वीकार करके भी मैं अपना अस्तित्व समझ रहा हूं । इस प्रकार की भावना यदि स्वयं की विकसित होती है तो उसको दुनिया कुछ भी कहे, लेकिन वह निश्चित रूप से निष्ठावान होगा । 'मैं हूं' और यदि अन्य कहता है कि 'मैं नहीं हूं' तो मैं उसकी बात नहीं मानूंगा ।

कोई व्यक्ति आकर कह दे कि तुम तो हो ही नहीं, तब क्या आप दुनिया से हट जायेंगे या यह अनुभव कर लेंगे कि वास्तव मे मैं नही हू ? आप ऐसा अनुभव नही करेंगे ? क्योंकि आपको स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि मैं हूं। इस पर और विचार करिये कि मैं हू तो यह कौन है? क्या यह शरीर है जो अनुभव करता है कि मैं हू अथवा शरीर के अन्दर मैं अन्य कोई तत्त्व अनुभव करने वाला है ? गहराई मे उतरेंगे तो आपको साफ प्रतीति होगी कि 'मैं' पने का अनुभव भीतर से आता है और यह भीतर का जो तत्त्व है, वही आत्मा है। वही आनन्द रूप है और सर्व शक्तिमान् है। सर्वोच्च कार्य सिद्धि की भी वही साधिका है।

अनन्त शक्ति का स्रोत–आत्मा :

यह आत्मा ही अनन्त शक्ति का स्रोत होती है। वह शक्ति आज दबी हुई हो—अप्रकट हो, यह दूसरी बात है, लेकिन यही आत्मा जिस दिन उस सम्पूर्ण शक्ति को प्रकट कर लेगी, तब यही परमात्म स्वरूप बन जायगी। इसलिये आत्म-स्थिति को समझ कर तथा लक्ष्य को पहिचान कर यदि अनन्य भाव से साधना में लगेंगे तो सिद्धि जरूर मिलेगी।

एकनिष्ठ तल्लीनता कैसी हो ?

आप कभी इन्कमटैक्स के प्रसग से रोकड मिलाने के लिये बैठते हैं या नही ? मालूम होगया हो कि चैकिग आने वाली है और रोकड मे जरा भी इधर-उधर की बात रह गई और सरकार के सामने चली गई तो न मालूम कितना टैक्स और पेनल्टी देनी पडेगी अथवा क्या सजा भुगतनी पडेगी—इस बात का ध्यान आते ही आप कितनी तल्लीनता से रोकड मिलाने के लिये बैठ जाते हैं ? उस समय आप क्या सोचते हैं और कैसे तन्मय हो जाते हैं ?

जिस समय आप रोकड मिलाने के कार्य मे लगे हुए होते हैं, उस समय आपके नाम से कोई बाहर से आवाज लगाता है तो उसके शब्द आपके कान मे आकर टकराते भी हैं- फिर भी क्या आप उन शब्दो को सुन पावेंगे ? कई शब्द टकरा कर चले जायेंगे, लेकिन आप उस काम मे इतने तल्लीन होगे कि आप उन्हें सुन नही पावेंगे। उस वक्त कभी आप को अनुभव हुआ होगा कि जोर से भूख लग रही हो और यात्रा आदि किसी कारण से पहले एक दिन तक भोजन नही किया हुआ हो फिर भी उस समय क्या भूख-प्यास आपको सतायेगी ? मच्छर भी काट रहे हो तो क्या आपको उनका ख्याल आवेगा ?

सोचने की बात यह है कि ऐसा प्रसग सामने आने पर क्यों आप

शरीर सम्बन्धी सारी बातें या तकलीफें भी भूल जाते है तथा उस एक ही विचार में इतने डूब जाते हैं कि उसके सिवाय किसी और बात या तकलीफ का भान तक नही रहता है ? भला, आप शरीर की बातें कैसे भूल गये ? उस समय परिवार के सदस्यो की बातें आपके मस्तिष्क मे क्यों नही आती ? प्रिय से प्रिय वस्तु को भी उस समय आप कैसे भूल जाते हो? सच पूछें तो मन की ऐसी तल्लीन स्थिति ही आपकी मदद करती है कि आप रोकड के हिसाब को बिल्कुल सही और ठीक ढग से जमा लेते हैं तथा उसमे उस तल्लीनता के कारण किसी तरह की गलती या भूल नहीं रह पाती है । मन की ऐसी स्थिति आपको सिद्धि देने वाली होती है । उस समय यदि दूसरी-दूसरी बातें मन में आती रहे तो रोकड मिलने में कुछ न कुछ नुक्स रह जायगा, इसलिये चतुर व्यापारी रोकड मिलाते समय अपने मस्तिष्क में रोकड के सिवाय किसी तरह की विचारणा या महसूसगिरी नही रखते हैं । यदि आप ठीक तरह उन क्षणो का अनुभव लें तो आपके जीवन, आपके परिवार और आपकी सारी सम्पत्ति बल्कि आपकी प्रत्येक अनुभूति को आप रोकड की सेवा में समर्पित कर देते हैं। एकनिष्ठ अर्पणा इसी मन स्थिति को कहते हैं ।

अब प्रश्न यही है कि ससार के कार्यों मे आप ऐसी और इतनी तल्लीनता बना लेते हैं तो वैसी तल्लीनता व तन्मयता, वैसी अर्पणा और वसी साधना आत्म दर्शन के लक्ष्य के प्रति क्यों नहीं बना सकते हैं? लौकिक कार्य की अपेक्षा किसी अलौकिक कार्य मे तो एक निष्ठा कई गुनी गहरी बन जानी चाहिये । आत्म-दर्शन के लक्ष्य के प्रति यदि ऐसी एक निष्ठा बनती है तो समर्पण युक्त साधना महान् आनन्द का कारण बन जाती है ।

आत्म-दर्शन में आकर्षण कैसा हो ?

जिस प्रकार आपकी वहा रोकड मिलाने मे अर्पणा की भावना बनी, लेकिन यह क्यो बनी ? क्योंकि वहा आपके मन मे पैसे का आकर्षण होता है-पैसे का मोह होता है । एकाग्र चित्त होकर आप रोकड के अन्दर अपने को खपाने का पूरा प्रबन्ध कर लेते हैं तो बडे से बडे अधिकारी भी उस रोकड-बही मे कोई नुक्स पकड नही सकेंगे । यह अनुभव का विषय है । इस रोकड को मिलाने के लिये यदि जीवन की सामग्री का समर्पण कर देना पडा तो क्या रोकड मिलाने के कार्य से भी दर्शन के कार्य को आप अधिक महत्त्व नही दे सकते हैं ? रोकड मिलाने जैसी मन स्थिति से आप भगवान् के दर्शन करना चाहते है या नहीं ? पैसे में जितना आकर्षण रख रहे हैं, प्रारभ मे यदि उतना

आकर्षण ही लेकर दर्शन के लक्ष्य के प्रति चलें, तब भी आपका आत्म-दर्शन के लिये मार्ग प्रशस्त बन सकता है।

आत्म-दर्शन के प्रति यदि इस रूप मे भी आपने आकर्षण लगा दिया तो दूसरी सारी बातें छूट जायगी तथा दर्शन के प्रति आपका एकनिष्ठ ध्यान बन जायगा। उस दिशा मे आगे बढने से आन्तरिक आनन्द का प्रवाह भी फूट पडेगा।' ऐसी तन्मयता और तल्लीनता का कवि आनन्दघन जी ने भी अपनी इस प्रार्थना मे सकेत दिया है—

तरस न आवे हो मरण जीवन तणो,
सीजे जो दर्शन काज।
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी,
'आनन्दघन' महाराज॥

भक्त की कैसी मार्मिक भावना का वर्णन यहा पर कवि की लेखनी से हुआ है? जो दर्शन के काज से सीजता है, वह मृत्यु का भय भूल जाता है तो जीवन की चाह को भी भूल जाता है। 'सीजता' शब्द मार्मिक है? एक चना कितना कठोर होता है लेकिन जब उसको उबलते पानी मे डाला जाता है तो वह उसमे सीजता है और सीज कर गल जाता है—नरम पड जाता है। उसी प्रकार एक भक्त का हृदय उतना नम्र पहले नहीं होता। वह दर्शन की तन्मयता लेकर जब आगे बढता है तो नाना प्रकार के कष्टों और परिषहों के मध्य होकर उसको गुजरना पडता है। वह उसके लिये उबलता पानी होता है जिसमे सीज कर वह अतिशय विनम्र बन जाता है—तल्लीन हो जाता है। उस अपूर्व मानसिक अवस्था मे वह जीवन-मरण की 'तरस' से भी मुक्त हो जाता है जैसे अर्जुन को केवल उसका लक्ष्य दिखाई दिया था, वैसे ही उसको केवल दर्शन का लक्ष्य ही दिखाई पडता है।

दर्शन की साधना के लिये जब ऐसा समर्पण का भाव बनता है और उस समर्पण के साथ साधना होती है तो साधक जीवन-मरण का भेद भी भूल जाता है। यदि दर्शन का कार्य सधता है तो न उसको मरने की भीति रहती है, न जीवन की तरस। जीवन और मरण—सबको भूल कर वह एक मात्र दर्शन की कार्य सिद्धि के लिये जुट जाता है। कवि आनन्दघन जी ऐसे साधक के लिये तब आशा का सन्देश भी देते हैं। उन्होने कहा है कि वैसे तो दर्शन दुर्लभ हैं, लेकिन आपकी कृपा हो जाय तो वे ही दुर्लभ दर्शन सुलभ हो जाते हैं। इस रूप मे उन्होने दर्शन का समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है।

दर्शन कब सुलभ हो जाते हैं ? आनन्दघन जी कहते हैं कि जब आपकी कृपा हो जाय। 'आपकी' से अर्थ आप यही लेंगे कि भगवान् की कृपा हो जाय। उनकी कृपा का सम्बन्ध तो सभी पर समान रूप से लागू होता है जो भी समर्पण युक्त साधना करता है। बल्कि भगवान् की कृपा तो जैसी उस पर होती है वैसी दूसरों पर नहीं हो तो क्या भगवान् भगवान् रहेंगे ? वे तो घूसखोर कहलाने लग जायेंगे। रिश्वत दे उस पर तो मेहरबान हो जाय और दूसरों पर नहीं। लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वह भगवान् तो पापी और धर्मी सब पर कृपावान हैं, अकृपावान नहीं।

लेकिन वह भगवान् कोई निराला भगवान् नहीं है या सिद्ध शिला-स्थित भगवान् नहीं है, वह तो अपनी स्वयं की आत्मा है जो भगवतस्वरूपी है तथा समर्पणमयी साधना की सिद्धि हो जाने पर स्वयं भगवान् बन जाती है।

समर्पित साधना आत्म-स्थिरता :

समर्पित साधना का यह तात्पर्य है कि आत्मा कहीं और-और भावों में या शरीर के भाव में भी स्थित नहीं रहे, बल्कि अपनी ही आत्म-स्थिति में स्थित बन जावे। समर्पित साधना-शील व्यक्ति कई बार परिवार के, घर के काम करता हुआ दिखाई देता है परन्तु उसका ध्यान भीतर में ही केन्द्रित रहता है। तटस्थ भाव से ही वह बाहर का काम देखता है और जब भी अवसर आता है तो सम्पूर्णतया आत्म-स्थित बन जाता है।

यह सम्पूर्ण आत्म-स्थिति अर्पण की स्थिति बनती है और उस साधक के लिये फिर आत्म-दर्शन का कार्य सिद्ध हो जाता है—सुलभ बन जाता है। आत्मा में स्थित होकर शरीर के साथ रहने वाली बाहरी सामग्री की पूर्ति का ध्यान छोड़ दें तो फिर देखिये कि कैसा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है ? यह आपका अपना ही अन्तर्यामी आप पर कृपावान बन जायगा।

आप सोचेंगे कि ये गहरी आध्यात्मिकता की बातें म० कह रहे हैं लेकिन हमारी तो समझ में नहीं आती हैं। ये इसलिये नहीं आती कि आप उनकी ओर तल्लीन और तन्मय नहीं बनते हैं। यदि आवश्यक तल्लीनता रखें तो वे जरूर समझ में आवेंगी—आज नहीं तो कल नहीं तो कभी न कभी अपनी आत्मिक-ज्योति को जलाने की भावना अवश्य बनेगी। आत्म-स्वरूप को समझना है तथा ज्योति के स्वरूप को समझना है तो इन आध्यात्मिक बातों को आपको समझना होगा। इन बातों को यदि आप समझने का प्रयास नहीं करेंगे तो न

इस लोक मे सुख पायेंगे, न परलोक मे सुख पायेंगे तथा न ही संसार परिभ्रमण मे कही भी शान्ति प्राप्त कर सकेंगे ।

आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्म ज्योति को प्रकटाने का मूल स्रोत होता है । यदि अपने जीवन मे आध्यात्मिकता के इस मूल स्रोत के आधार पर चलेंगे तो उससे जो आन्तरिक उपलब्धि होगी वह सन्तुष्टिकारक होगी । ऐसी आन्तरिक उपलब्धि के साथ चाहे आपके चारो ओर के वातावरण मे अशान्ति फैली हुई होगी, आप अपने भीतर शान्ति की शीतलता बनाये रख सकेंगे । आप कठिन शब्दों मे मत उलझिये, उनके भावो को समझने का अभ्यास बनाइये । जिस पदार्थ को बहुत दिनो तक नही खाया है और अब खाते हैं तो अटपटा लगता है लेकिन रोजाना खाने लग जायेंगे तो वह पचने लग जायगा । वैसे ही शास्त्रो की वाणी को श्रवण करें, पढ़ें, उस पर चिन्तन-मनन करें तो कार्यसिद्धि अवश्य होगी । आत्मा की पूर्णतया आत्म-स्थिति ही इस कार्य सिद्धि का प्रधान सम्बल होती है ।

एक साधे सब सधे :

दर्शन के लक्ष्य के प्रति यदि एकनिष्ठ समर्पित साधना की स्थिति बन जाती है तो दर्शन की अवस्था भी सुलभ हो जाती है । यह एक साधना बन गई तो ससार की कहावत है कि पौबारा पच्चीस है । 'एके साधे सब सधे और सब साधे सब जाय' इसलिये एकनिष्ठ एव समर्पित साधना का विशिष्ट महत्त्व माना गया है । सब ओर हाथ पसारने की बजाय एक आत्म-स्वरूप को ही मजबूती से पकड लें तो सब हाथ मे आ जायगा ।

अभी मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के भाई अपनी विनति रख गये । चाहे व्यक्तिगत रूप से कहे या प्रान्त की दृष्टि से कहे लेकिन भावना सबकी यही चलती है कि महाराज भी उधर आवें । लेकिन महाराज कहा आयेंगे ? महाराज आपके पास हैं यदि आप बुलाना चाहे तो किस दृष्टि से बुलायेंगे ? आपके महाराज कौनसे हैं ? पता है ? अरे वे, जो आपके ही अन्दर मे बिराजे हुए हैं । आप उनको तैयार कर लीजिये, उन की कृपा दृष्टि अर्जित कर लीजिये- फिर देखिये कि कैसे पवित्र महाराज हैं ? आप इन महाराज को पकड़ें,-एक निष्ठा, एक श्रद्धा और एक अर्पणा के साथ साधना मे लगें और आत्म-दर्शन के लिये आगे बढें तो सुलभ दर्शन की अवस्था प्राप्त करने मे देरी नही लगेगी ।



आपका भविष्य आपके हाथ

सुमति चरण रज, आतम अर्पण, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मति तर्पण बहु सम्मत जणिये, परि सर्पण सुविचार, सुज्ञानी ।।

आत्म शक्तियों को लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठ बन कर अर्पण कर दें- यह साधक के लिये अनिवार्य मन स्थिति होती है । कहां समर्पण करना-किस तत्त्व के लिये समर्पण करना-यह विवेक की वस्तु स्थिति है । समर्पण में एक वस्तु अर्पित की जाती है तथा एक के लिये अर्पित की जाती है, इस प्रकार दो वस्तु स्वरूप का ध्यान होना चाहिये । इस अर्पण के भाव मे एक दृष्टिकोण यह झलकता है कि एक अर्पणीय वस्तु सदा अर्पण करने के योग्य ही है और अन्य, जो वस्तु जिसके चरणो में अर्पित की जा रही है, वह सदा अर्पण लेने के योग्य ही रहता है । यह कथन एकान्तत योग्य नहीं है ।

जिसका नाम लेकर अर्पण की बात कही जाती है, वह तो आदर्श के तुल्य है । उसको अर्पण की आवश्यकता है ही नही और न वह अर्पणीय वस्तु को ग्रहण करता है । अर्पण केवल स्वय के स्वरूप में ही है आत्मा की चररणा मे ही आत्मा का अर्पण है ।

आत्मा का अर्पण आत्मा ही को :

आत्मा ही अर्पण करने वाली होती है और वह समर्पण स्वयं को ही किया जाता है, क्योंकि आत्मा का हानि-लाभ और आत्मा का भविष्य भी इसी आत्मा के हाथ होता है । आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ जब चिन्तन किया जायगा तो स्पष्ट हो जायगा कि इसी आत्मा की शक्तियां कभी-कभी आत्मन्य स हट कर अपने आत्मीय स्वरूप के रमण को छोडकर पर-स्वरूप मे रमण

करने लग जाती हैं। बाहर के ही दृश्यों में वे मोहित और प्रलुब्ध बन जाती हैं तथा उन्ही को सब कुछ समझ कर चलने लग जाती हैं।

कभी इस आत्मीय शक्ति के चिन्तन का प्रवाह भूतल की ओर जाता है, वहा यह प्रवाह अपना सम्बन्ध उस भूतल पर रहने वाली वस्तुओं से बनाना चाहता है और उस कार्य मे जब बाधा पडती है या रूकावटें आ जाती हैं तो अन्त.करण मे एक तरह की खिन्नता सी पैदा होती है। यह खिन्नता उस शक्ति-प्रवाह को उन सासारिक वस्तुओ से उदासीन बना देती है। तब वह शक्ति-प्रवाह नया मोड लेता है तथा ऊपर की ओर उठता है। इस कार्य मे सोचिये कि अपने चिन्तन शक्ति-प्रवाह को भूतल की तरफ ले जाने वाली भी आत्मा ही है तो उसे फिर से भूतल से ऊपर की ओर मोड देने वाली भी यह आत्मा ही है। करने वाली और सोचने वाली यह चैतन्य आत्मा है। यही जब तत्पर बनती है कि अमुक कार्य कर लिया जाय तो वह काम कर लिया जाता है। इसे आत्म-प्रेरणा कहते हैं।

आत्मा ही अपने अनुभवो से शिक्षा लेती है। एक व्यक्ति व्यापार के अन्दर अमुक वस्तुओ का संयोग जुटा कर पूंजी लेकर दूकान पर बैठता है, लेकिन ठीक से व्यापार करने पर भी जिस रूप मे आमदनी होनी चाहिये उस रूप मे आमदनी नहीं होती है। इस कारण वह सोचता है कि मुझ वांछित आमदनी होने मे अमुक व्यक्ति बाधक बन गया। तथा कभी अन्य स्थिति मे वह सोचता है कि मैंने तो अपनी पुत्री के लिये सब कुछ अच्छा किया, लेकिन वह विधवा हो गई। इस प्रकार आत्मा की वृत्तिया अपने स्वरूप से निकल कर बाहर अलग-अलग आयाम बनाती हैं और अलग-अलग तरीके से चिन्तन करती हैं। इन आयामो पर कई बार चित्त वृत्तियो को सफलता नहीं मिलती है तो उनमे कई प्रकार के भटकाव भी पैदा हो जाते हैं। पर उन चित्तवृत्तियो को यदि आत्मा अन्तर की खोज मे लगा देती है तो उनमे विवेक जाग्रत हो जाता है। उसे आत्मा का स्वय मे स्वय का समर्पण कहा जाता है।

इस प्रकार आत्मा जब अपना ही अर्पण अपने को कर देती है, याने कि अपनी सभी वृत्तियों को समेट कर आत्मदर्शन के लक्ष्य की तरफ अपनी गति को एकनिष्ठ बनाकर मोड देती है तो वह आत्मार्पण आत्मोत्थान का साधन बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत जब आत्मा ही को आत्मा का अर्पण प्राप्त नहीं होता है, याने कि आत्मा आत्मस्थ नहीं बन पाती है तो आत्मा की शक्तिया अपने श्रोत से बाहर निकल कर सासारिकता की विभिन्न प्रवृत्तियो मे

फंस जाती हैं। तब सम्पूर्ण आत्म-शक्ति केन्द्रीभूत नहीं हो पाती है। वह शक्ति विभिन्न विकारो मे परिणत होकर सब ओर बिखर सी जाती है । ऐसी अवस्था में आत्म-प्रेरणा नहीं बनती तो आत्मार्पणा भी कैसे बन सकती है ?

आत्म-शक्तियो का चिन्तन जब एकजूट नहीं रहता है और बाहर के दृश्यों मे अलग-अलग बिखर जाता है तो वह एक दृष्टि से भटक जाता है क्योंकि उस समय जो चिन्तित होता है तो बाहरी दृश्यो की अपेक्षा से होने वाले हानि-लाभ के कारण—कि अमुक आमदनी उसको होने वाली थी, वह नहीं हुई, अथवा अमुक लाभ जिस की आशा नही थी अनायास मिल गया । किन्तु उन शक्तियों को उस समय मे स्वय के स्रोत आत्म-तत्व को होने वाले हानि-लाभ का ख्याल नही रहता है । निज तत्व को भूल कर जो पर-तत्व मे भटक जाता है, उसी को भटकाव की स्थिति कहते हैं। ऐसी भटकाव की अवस्था मे पडकर आत्मा अपने त्राण का उपाय बाहर ही बाहर खोजने लगती है ।

जब सांसारिक उपलब्धियो में हानि-लाभ की चिन्ता उठती है तो कई व्यक्ति, कई बार ज्योतिष के विद्वानों के पास पहुच जाते हैं । वे उनसे कहते हैं कि हमें होने वाली हानियो के कारण बताइये और भविष्य का फल बताइये कि इन उपलब्धियों के सम्बन्ध मे आगे क्या होने वाला है ? वे भूत एव भविष्य की स्थिति का मूल्यांकन उनसे पूछते हैं। ज्योतिषी भी अपने पास आने वाले व्यक्ति की सन्तुष्टि के लिये पचांग को उलटते-पुलटते हैं, अमुक-अमुक ग्रहो के प्रभाव को देखते हैं तथा फलित बताने की चेष्टा करते हैं । कोई बताता है कि आपको शनिश्चर की दशा है तो अमुक-अमुक अनुष्ठान करिये । वह व्यक्ति सोचता है कि ज्योतिषी जी ने कहा वह सच है । वह इतना नहीं सोच पाता कि शनिश्चर का विमान कहा है, वह पृथ्वी से कितनी दूरी पर है और उसका प्रभाव-कुप्रभाव पृथ्वी के निवासियो पर किस रूप मे पडता है ? व्यक्ति जब अपने ज्ञान और विवेक के साथ गहराई से नही सोचता है तो वह किसी के भी कैसे ही मत को सच मान लेता है । यह बिखरी हुई आत्मा की विभिन्न शक्तियो का अविवेक और अज्ञान होता है कि किसी के भी मत को सुनकर उसकी परीक्षा करना और फिर स्वीकार करने की वृत्ति सजग नहीं बनती है । आत्म शक्तियो का बिखराव और भटकाव इस रूप मे स्वय आत्मा के ही विनाश का कारण बन जाता है ।

पारदर्शि दृष्टि से यदि चिन्तन करें तो एक ही समय में जन्म लेने वाले और माता की कुक्षियो से बाहर आने वाले दस बच्चों के ग्रह नक्षत्रों में

समानता रहनी चाहिये और सारे जीवन में उन ग्रह नक्षत्रों के अनुसार फला-फल की भी समानता रहनी चाहिये, लेकिन देखा यह जाता है कि उन दस मे से सबका भविष्य अलग-अलग रूप मे चल रहा है। कोई दुखी है तो कोई सुखी है एवं कोई धनवान है तो कोई निर्धन। एक विद्वान् है तो दूसरा मूर्ख। ऐसा क्यो होता है ? इन तथ्यो का मनुष्य समझदारी के साथ चिन्तन नही करता है और अपनी आत्मिक शक्तियो को वह जिधर चाहे उधर अविवेक के साथ घुमाता रहता है। उसके मन मे बाहरी हानि लाभ का ही विचार रहता है—आत्म-हित की भावना से वह शून्य सा बन जाता है।

मन की शिथिलता से हानि :

अपनी आत्म-शक्तियो के भटकाव की अवस्था में मनुष्य किसी भी कार्य सिद्धि के लिये अपना मनोयोग तो नही लगाता है और इधर-उधर की बातो मे फस जाता है। ज्योतिषियों की बातो मे फसावट भी इसी तरह की होती है। यह ठीक है कि ज्योतिष-विद्या गणित पर आधारित होती है और नक्षत्रों की गति व प्रभाव की गणना गणित के द्वारा ही की जाती है। जब कभी ग्रहण होता है या ग्रहो की छाया पडती है तो मनुष्य लोक के सभी मनुष्यो पर उसका प्रभाव होता है—वह कोई व्यक्तिगत प्रभाव नही होता। पूर्व मे भी ऐसी बातें आई हैं। अष्ट-ग्रहों का प्रसग भी आया है। कितना ही हल्ला मचा था पहले, मगर बाद मे क्या परिणाम आया ? जरा सोचने का विषय है। यह मनुष्य की आत्मा का प्रसग है। इस प्रकार आत्मा की शक्ति जब बाहर जाने लगती है तब इस प्रकार के विचित्र-विचित्र दृश्य अर्थात ग्रह गोचर सबन्धी मनकल्पित दृश्य उसके द्वारा उपस्थित किये जाते हैं।

कई पुरुषो के पीछे कई वक्त ऐसे प्रसंग आये हैं। नाम लेकर के कहू तो भी चल सकता है। भोपाल मे कुबेरसिंह जी जो प्रेम मुनि जी के ससार पक्ष के मामा जी हैं, शहर मे नई दूकान खोलने लगे तो मुहूर्त निकलवाने के लिये ज्योतिषी के पास गये। उस ज्योतिषी ने कहा-अभी तो आप भूलकर भी दूकान मत लगाना—शनि का ढैया चल रहा है, सो शनि की दशा मे कोई लाभ नही होगा। उस समय उन्होनें दुकान लगाने का विचार छोड दिया। घर पर पहुच कर उन्होनें सारी बात अपने पिताजी को बताई। पिताजी ने उनसे कहा—आकाश मे चलने वाला शनिश्चर का विमान तुम्हारे ही पीछे क्यो लगा ? तुम इधर-उधर की बातो मे क्यो फसते हो ? शास्त्रीय वचनों पर विश्वास रखो, भगवान् महावीर की वाणी पर आस्था बनाओ तथा अपना

काम काज शुरू करदो। काम करने वाले के लिये सभी मुहूर्त अच्छे होते हैं— कोई भी मुहूर्त खराब नहीं होता। यह बात उन्होने इसलिये कही कि वे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा. से बराबर व्याख्यान सुनते रहे हैं तथा शास्त्रीय वचनो पर श्रद्धा रखते आये हैं। पुत्र से उन्होने यही पूछा कि दूकान लगाने का उसमें उत्साह है अथवा नही? तब पुत्र ने कहा—उत्साह तो है। उन्होने कहा—तब ज्योतिष का विचार करने की जरूरत नहीं है, दूकान लगादो। कुबेरसिंह ने दूकान लगादी और दो तीन साल मे होवे, उतनी आमदनी उनको एक ही साल में हो गई—ऐसा वे बता रहे थे। तब सोचिये कि कहा गया शनिश्चर और स्थिति क्या की क्या बन गई?

जो व्यक्ति मनोयोग लगाना नही जानते हैं - किसी काम मे लगन नहीं लगा सकते हैं, वे ही अधिक करके इधर-उधर की बातो मे फसते हैं और तरह-तरह की विचारणा मे पडते हैं। कभी कभी मनुष्यों के मस्तिष्क में इस प्रकार की बातें आती हैं तो उन बातों को मन पकड लेता है और हर वक्त सोचता रहता है कि इस समय शनिश्चर लगा हुआ है तो कोई भी नया काम करूंगा तो वह सफल नही हो सकेगा। उस शका के साथ कदाचित् नया काम वह शुरू कर भी लेता है तो मनोयोग के साथ नहीं कर सकता है। ऊपर-ऊपर से उस काम को करता है क्योंकि मन मे तो शनिश्चर की बात जमी हुई होती है। ऊपर-ऊपर से काम करता है तो काम सुधरेगा कैसे? वह तो बिगडता ही है। तब उसके पूर्व विचारो को पुष्टि मिल जाती है और सोचता है कि शनिश्चर की वजह से हानि हो गई। वह यह नहीं सोचता कि मेरी गलती से हानि हुई है।

सोचने की बात यही होती है कि हानि मनोयोग के साथ नही लगने से होती है। उत्साह और मनोयोग के साथ काम में जुटना तो हानि नहीं होती। हानि और लाभ वास्तव मे किसी बाहरी शक्ति पर निर्भर नहीं करता बाहर तो निमित्त बन सकता है। यह इसी आत्मा की शक्ति पर निर्भर करता है कि कार्य भी साथ कितने मनोयोग के साथ किया जाता है?

आत्म की स्वभाव-विभाव परिणति :

आत्म निष्ठा के न रहने से स्वयं आत्मा की ही हानि होती है। मानसिक भावो मे विकृति पैदा होती है जो मानसिक रोगो का प्रश्न भी बनाता है। ऐसी विकृति और दुर्बलता नई प्रकार से मन-मस्तिष्क को प्रभावित बनाती है। वास्तव में वर्तमान युग मे जिस रूप मे आत्म-निष्ठा की दुर्दशा हो रही

है। उसकी ही सम्बन्ध में भी संकेत दे रहा हूँ।

ज्योतिष विषयक जो उपर्युक्त चर्चा की गई है, वह चर्चा मुख्यतया समय (काल) से सबधित है। काल के विषय मे अनेक आचार्यों के विभिन्न मत-मतान्तर हैं। यह एक स्वतत्र विवेच्य विषय है। फिर भी-काल को स्वतत्र द्रव्य नही माना गया है। क्योंकि वह अस्तिकाय रूप नहीं है। यह औपचारिक द्रव्य है। जीवादि पर्याय के परिवर्तन से समय की गणना की जाती है। परमाणु की एक पर्याय का परिवर्तन अथवा एक आकाश प्रदेश से अन्य आकाश प्रदेश मे परमाणु की गति को समय माना गया है। अर्थात् परमाणु आदि स्कधो तथा जीवो के पर्याय आदि गतिशीलता के साथ काल औपचारिकता है। अत काल आत्मीय पर्याय के कारण सापेक्ष है। अर्थात् एक अपेक्षा से आत्मा को समय की सज्ञा भी दी गई है। ऐसी अवस्था मे अच्छा या बुरा काल का व्यवहार आत्म-पर्याय आदि की दृष्टि से होगा।

वह आत्मा मगलमय है या अमगलमय ? आत्म तत्त्व तो आध्यात्मिक जीवन का मूल सूत्र होता है इसलिये वह तो सदा मगलमय होता है—उसमे कभी अमगलता का प्रश्न ही नही है। उसके अमगलकारी होने का प्रसग तब आता है जब कि वह आत्मा अपनी शक्तियों को अपने अन्दर स्थित नही रख पाती है तथा वे शक्तिया आत्म स्वरूप की दिशा से मुडकर बाहरी पदार्थों की लालसा मे भटकने लग जाती हैं। ऐसी आत्म विस्मृत अवस्था मे आत्मा का चिन्तन भी अशुभ श्रेणी मे चलता है और उससे फिर अशुभ कर्मों का ही बध होता है जिसके परिणाम स्वरूप वह आत्मा अपने ही लिये अमगलकारी बनकर नित नवीन दुखो की सृष्टि करती रहती है। आत्मा की ऐसी दुर्दशा स्वय की भावना से सम्बन्धित होती है, वह किसी बाहरी शक्ति से पैदा नही होती है। हां, निमित्त कभी कभी भिन्न भी होता है। आत्मा स्वय के हानि लाभ की स्वय जिम्मेवार होती है।

समय की दृष्टि से आत्मा की पर्यायो को माना है, इसलिये शास्त्रकारों ने स्व-समय तथा पर-समय के रूप मे समय के भेद किये हैं। अपनी आत्मा का जो सिद्धान्त है उसको स्व-समय कहा गया है और पर-समय वह है जिसका पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है। पर-समय मे आत्मा पुद्गलों को प्रधानता देकर चलती है। जो स्व-समय मे रमण करता है, उसको ग्रह मडल अथवा नक्षत्र व्यक्तिगत रूप से हानि नही पहुचा सकते हैं। व्यक्तिगत हानि स्वयं से ही पहुचती है। जब जीवन की भीतरी शक्ति ही कमजोर हो जाती है तो फिर हानि पहुचाने का निमित्त कोई भी मिल जाता है।

आपको वह दृष्टान्त तो मालूम ही होगा कि घास के लालच से एक ग्रामीण श्मशान में आधी रात को कीला ठोकने के लिये चला तो गया, लेकिन उसमें आत्म विश्वास की कमी थी। श्मसान में कोई भूत प्रेत नहीं आया, परन्तु भय के कारण उसने जब जल्दी-जल्दी में कीला ठोका तो उसकी मोटी धोती उसमें फंस गई। जब वह कीला ठोक कर उठने लगा तो धोती फंसी होने से धक्का खाकर गिर पड़ा। उस की आत्म-विश्वास की कमी उभर कर ऊपर आगई। उसने समझा कि उसको किसी भूत ने पकड़ लिया है और उसी वहम के कारण उसके प्राण निकल गये। यह भूत क्या था? उसका अपना ही भय था। वह अपनी निज की शक्ति को परख नहीं सका और भूत की कल्पना करके मर गया। इसी प्रकार कभी-कभी ज्योतिषियों की कल्पनाएं भी मनुष्य के मस्तिष्क में जकड़ जाती हैं तो बहुत बुरा असर डालती हैं।

मूल रूप में ज्ञान, विश्वास, निष्ठा आदि के सदर्भ में जब आत्म—स्वरूप की वास्तविकता से मनुष्य दूर हटता है, तभी उसके विचार वचन एव व्यवहार तीनों की दुर्दशा होनी शुरू हो जाती है। मन, वचन एव काया के व्यापारों की दशा बिगड़ जाने का साफ अर्थ यह होता है कि उसका जीवन विकृति की ओर मुड़ जाता है। आत्मा की इससे बढ़कर और क्या हानि हो सकती है? बस, सोचना यही है कि यह हानि स्वय आत्मा की वजह से होती है आत्मा ही लाभ की स्थिति बना सकती है,।

आत्मा के लिए घातक तत्त्व : प्रमाद

आत्म-मूर्छा से ग्रस्त व्यक्ति ही बाहर की इधर-उधर की, बातों में भरोसा करता है और दूसरो के चलाये चलना चाहता है। देखिये, विदेशों में कई लोग रहते हैं, क्या वे भी अपना प्रत्येक कार्य मुहूर्त दिखा कर करते हैं ? वहा शायद ऐसे अंध विश्वासो का प्रचलन कम ही है। लेकिन वे लोग अपना कारबार करते हैं, शुभ कार्य भी प्रारभ करते हैं और उन भारतीयो की अपेक्षाकृत ज्यादा धनार्जन भी करते हैं जो प्रत्येक कार्य शुभ मुहूर्त के हिसाब से किया करते हैं। क्या मुसलमान लोग भी मुहूर्त देखते हैं ? उनके काम भी बिना मुहूर्त ही कामयाब हो जाते हैं तो आपको ही अंधविश्वासों मे फसे रहने की कौनसी मजबूरी लगी हुई है ? यह आप अपने आत्म-विश्वास की कमी के कारण बाहर की मजबूरियो मे रास्ता ढूंढते फिरते हैं। ध्यान रखें कि सही रास्ता कही बाहर नही मिलेगा—वह तो अपने ही भीतर है तथा भीतर की खोज से ही मिलेगा।

आपको कई व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अपनी आत्मा पर पूरा-पूरा विश्वास लेकर चलते हैं—उनकी स्थिति को आप देखिये और उन लोगो की स्थिति की तुलना उनकी स्थिति से करिये, जो पल-पल मे मुहूर्त देखकर चलते हैं। इस तुलना से आपको स्पष्ट ज्ञान हो जायगा कि एक आत्मनिर्भर व्यक्ति ही सदा सफल रहता है।

आत्म निर्भरता की दृष्टि से भगवान् महावीर ने कहा है कि समय मात्र का भी प्रमाद-आलस्य नही करना चाहिये। जो अप्रमत्त होकर चलता है, वह अपना सुन्दर भविष्य वना लेता है। शास्त्र की गाथा है—

परिजुरई ते सरीरय, केसा पडुरया हवन्ति ते।
से सव्व वलेण हावई, समय, गोयम, मा पमायए।।

अर्थात् तुम्हारा शरीर, जब ढल जायगा, मुह पर झुर्रिया पड जायेंगी, वाल सफेद होगे और सव अगोपाग जर्जर हो जायेंगे, तव क्या कर पाओगे ? मुहूर्त के भरोसे मत वैठे रहो। आत्मोत्थान के शुभ कार्य को आरभ करदो—इसलिये समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। यदि समय को आत्मा से अलग माना होता तो वह सर्वमान्य स्वतत्र तत्त्व होता और भगवान् कहते कि आत्म-कल्याण करने की दृष्टि से अच्छा मुहूर्त दिखा करके चलो। समय और आत्मा का सम्बद्ध मानकर ही भगवान् के मुख से यह चेतावनी निकली है कि यदि इस आत्मा को अपने लिये सुन्दर भविष्य का निर्माण करना है तो वह आत्म-कल्याण के कार्य मे समय मात्र के लिये भी अपनी कार्यरत शक्तियो के प्रति किसी भी रूप मे प्रमत्त भाव नहीं लावे।

आत्म भाव में प्रवेश ही : मंगल मुहूर्त :

बाहरी दृश्यो से अपनी शक्तियों को हटाकर और समेट कर आत्मा इन शक्तियो को जब अपने आत्म-भाव में समाविष्ट कर लेती है, जीवन के लिये वही मुहूर्त श्रेष्ठतम होता है। आत्मा जब बाह्य भाव से निज भाव मे प्रवेश करे—वही मुहूर्त श्रेष्ठ है। आप सोचेंगे कि दीक्षा भी तो मुहूर्त निकाल कर ही दिलाई जाती है। दीक्षा दिलाने वाले मुहूर्त निकलवाते हैं—यह उनकी व्यक्तिगत बात है। मैं तो यही कहता हू कि जिनको वीतराग वाणी पर पूरा विश्वास नहीं होता है और आत्मिक शक्ति के प्रति जिनकी आवश्यक निष्ठा नहीं होती है, वे ही मुहूर्त आदि के विचार मे पड़ते हैं। मुझे तो जब भी दीक्षार्थी दीक्षा लेने को कह दें एवं संरक्षक अनुमति देदें, तभी मैं दीक्षा दिला-दूगा। वास्तव में आत्मा जब अपने स्वरूप मे रमण करने की अभिलाषा करे तभी दीक्षा लेने की भावना पैदा होती है और आत्म-जागृति का वह समय ही श्रेष्ठ मुहूर्त होता है।

जिस दिन आत्म-विश्वास प्रबल बनेगा तथा यह विज्ञान हो जायगा कि आत्मा का पर्याय ही समय है तो काल का स्वतन्त्र अस्तित्व ही मस्तिष्क मे नहीं रहेगा और बाहर के मुहूर्तों में भटकने की वृत्ति भी मिट जायगी। जब उमंग है, उस समय कार्य करने बैठते हैं तो वह मुहूर्त ही है। यह बात ज्योतिष की स्थिति से भी ग्राह्य है। मैं संकेत दे रहा था कि मनुष्य का मन जब आत्मिक-स्वरूप को छोड़ कर और उसको विस्मरण कर जब बाहर निकलता है, तभी ज्योतिष देखने की उसकी वृत्ति बनती है। बाहर भटकने वाला मन अस्थिर हो जाता है। वह कभी आकाश को देखता है तो कभी पाताल को, कभी किसी दिशा मे मुड़ता है तो कभी दूसरी ही दिशा मे गति करता है। वह स्थिरता नहीं रखता है। लेकिन ऐसे अस्थिर मन वाले को कोई शुभ शिक्षा देता है तो उसे वह ग्रहण भी नहीं कर सकता है और न ही वह अपनी गति मे परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है।

हैं तथा मुहूर्त दिखाने वाले भी बहुतेरे हैं। लेकिन जब मल-मूत्र त्याग करने का समय आता है, तब भी मुहूर्त दिखाते हैं क्या ? नहीं दिखाते, और मुहूर्त दिखावे भी तो क्या मल-मूत्र ठहरेगा ? ये पाप भी आत्मा के मल-मूत्र होते है। तो इन पापों को छोडने के लिये क्या मुहूर्त दिखाना ? मल-मूत्र त्याग के लिये तो सभी समय अच्छा होता है। ऐसे सभी कामों के लिये जिनसे मैल हटता है और राहत मिलती है—सभी मुहूर्त श्रेष्ठ होते हैं। इस बात को मानने मे आत्म-निष्ठा होनी चाहिये और आत्म-विश्वास सुदृढ़ बना रहना चाहिये।

आत्मिक स्वरूप जगाइये।

यह मानकर चलें कि आपका वास्तविक हानि-लाभ तथा आपका भविष्य इसी आत्मा के हाथ है। अगर इन हाथो को आप दृढ बनादें तो फिर हानि-लाभ और भविष्य सब कुछ इस आत्मा के हाथो सवर जायगा।

लेकिन आप बाहरी प्रदर्शनों मे उलझ रहे हैं। गृहस्थाश्रम मे आपको कई तरह के काम करने पडते है,—यहां तक कि कोई भाई अफीम आदि जहरीले पदार्थों का व्यापार भी करते होगे। यह जो पोइजन का व्यापार है, वही रूप इस आत्मा के लिये सांसारिकता के व्यवहार का होता है जड़ तत्त्वों के प्रति ममत्व इस आत्मा के लिये पोइजन है। इस कारण इस पोइजन से जितनी जल्दी दूर हो सकें, उतनी जल्दी ही अपनी आत्मा को स्वास्थ्य लाभ करा सकेंगे क्योंकि एक स्वस्थ आत्मा ही परमात्म स्वरूप के प्रति समर्पित भाव के साथ गति कर सकती है। यदि आपकी धारणा और निष्ठा यह है कि आत्म शक्तियो को जिस रोज जाग्रत बना लूंगा, उसी रोज सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में अर्पित हो जाऊंगा। तब जिस दिन यह भावना जाग्रत होगी, तभी जीवन की दिशा बदलेगी। जीवन की दिशा बदलेगी तो दशा भी बदलेगी और दशा बदलेगी तो सब कुछ बदल जायगा। आप इस को चिन्तन की दृष्टि से लें। यह जरूरी नहीं कि आज का आज ही परिवर्तन करदें और यह सभव भी कहां है ? क्योंकि दीर्घकाल से पडे हुए संस्कार एकदम थोडे ही मिट सकेंगे ? लेकिन इस आत्मा की शक्ति की प्रतीति ले लें कि अपने हानि-लाभ की कर्त्ता और भविष्य की निर्माता वही है और फिर आत्म-विश्वास को अडिग बनावें। ऐसा हो जाने पर आत्म पुरुषार्थ प्रबल बन जायगा और तब आत्म-दर्शन भी निकट आ जायगा।



भगवान् के चरणों में समर्पण

सुमति चरण रज, आतम अर्पण, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मति तर्पण बहु सम्मत जणिये, परि सर्पण सुविचार, सुज्ञानी ॥

सुमतिनाथ परमात्मा के चरणों में प्रार्थना के प्रसंग से चिन्तन का अवसर उपस्थित हुआ है । कविता के शब्दों में कवि ने प्रभु से निवेदन किया है कि मैं आपके चरणों में अपनी आत्मा समर्पण करता हू ।

भगवान् के चरणों में आत्मा का अर्पण सामान्य बात नहीं है । आत्मा के स्वरूप में आस्था बनाना तथा समग्र भाव से आत्मा को समर्पित कर देना एक विशिष्ट कार्य माना गया है । क्योंकि आत्मा का चरम लक्ष्य ही यह बताया है कि वह सम्पूर्ण रूप से अपने निज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय । यह जो अपने ही स्वरूप का पूर्ण विकास है, वही परमात्म स्वरूप की उपलब्धि है । आत्मा को समग्र भाव से अर्पण कर देना इसी चरम उपलब्धि का पहला सशक्त चरण है । इस दृष्टि से आत्मा का अर्पण-भाव बनना स्वयं में विशिष्ट उपलब्धि कहलाती है ।

भगवान् के चरण कमल कहाँ ? व कैसे हैं ?

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् का भौतिक याने बाहर से दिखाई देने वाला शरीर तो अभी वर्तमान मे नहीं है तो पैर रूप चरण भी नही हैं। जिन अगोपागो को मनुष्य की आकृति मे देखते हैं और उस आकृति में जैसे पैर दिखाई देते हैं, वैसी आकृति और वैसे पैर तो मोक्ष में पहुच जाने के बाद उन आत्माओ के रहते नहीं हैं। लेकिन भावात्मक दृष्टि से उन आत्माओं के गुणो को देखने की भावना बननी चाहिये और उनके उन आत्मिक गुणों को ही उनके चरण रूप मे मान सकते हैं।

सुमतिनाथ भगवान् या किन्हीं भी तीर्थंकर देव के संदर्भ मे जो चरण का उल्लेख किया जाता है, उसका तात्पर्य उनके धर्म-पद से है, जो दो हैं—श्रुत धर्म एव चारित्र्य धर्म। श्रुत धर्म सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् दर्शन चारित्र्य धर्म मे पाच महाव्रत, पाच समितिया और तीन गुप्तियां, श्रावक के पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत और बारह प्रकार के तप का समावेश होता है। ये दोनों श्रुत और चारित्र्य धर्म एक दृष्टि से भगवान् के दो चरण कमल हैं—पद्म रूप हैं। ये दोनों पद या पग बड़े ही पवित्र हैं। कवि ने इनको दर्पण के समान स्वच्छ एवं अविकारी बताये हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य का जो अपने जीवन मे यथोचित विकास कर लेता है, उसका आत्म-स्वरूप निर्मल होता चला जाता है।

ज्ञान दर्शन चारित्र्य रूपी भगवान् के चरण दर्पण से भी कई गुना अधिक निर्मल होते हैं। दर्पण तो फिर भी जड है, उसकी उपमा भी पूरी तरह नही लगती है, लेकिन स्वच्छता के एक अंश को लेकर भी दर्पण मे देखें तो उसमे प्रत्येक सामने आने वाली वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और मालूम होता है कि वह वस्तु अथवा व्यक्ति उस दर्पण को अर्पित हो गया है। जैसे यह दिखाई देता है, वैसे ही श्रुत और चारित्र्य-धर्म की परिपूर्ण निर्मलता को आत्मा का अर्पण कर देना—यह श्री सुमतिनाथ भगवान् के चरणो में अर्पण है।

भगवान् के चरणो में अर्पण : किसका ?

यह ठीक है कि भगवान् के चरण-रूप श्रुत एव चारित्र्य-धर्म के प्रति आत्मा अपना अर्पण करे—लेकिन एक यह प्रश्न सामने आता है कि यह अर्पण कौनसी आत्मा करे? कौनसी आत्मा का क्या अर्थ? आत्मा एक है या अनेक हैं ? क्या आप बता सकेंगे कि आत्माएं कितनी होती हैं ? आप सोचेंगे कि जितने यहा पर बैठे हुए हैं, उन सबके आत्मा हैं। यह तो अलग-अलग शरीर की दृष्टि से अलग-अलग आत्मा के अस्तित्व की बात हुई, लेकिन मैं पूछ रहा हू कि एक शरीर मे कितनी आत्माएं हैं ?

आप थोड़ी उलझन में पड़ रहे हैं, लेकिन ऐसी उलझन नहीं है। यहाँ तो बोध का प्रसंग है, ज्ञान का प्रसंग है एक शरीर मे भगवान् ने आठ आत्माएं बताई हैं। आप सोचेंगे कि एक ही शरीर मे आठ आत्माएं हों—यह कैसी बात है? आज तक तो एक शरीर मे एक ही आत्मा की बात सुनते आये हैं और आश्चर्य है कि आठ आत्माएं कैसे बताई जा रही हैं कभी कुछ सोच लेंगे कि पशु के गर्भ में जैसे तीन चार बच्चे आ जाते हैं, और चार बच्चों की व एक माता की इस प्रकार एक ही शरीर में पाच आत्माएं हो गईं क्या वैसे ही एक शरीर में आठ आत्माओं की बात कही जा रही है? वैसे तो एक पशु ऐसा भी है जो एक साथ ज्यादा सन्तान पैदा करता है तो उस के ज्यादा आत्माएं हो जाती हैं, लेकिन वह अलग बात है। अभी मैं आठ आत्माओं के बारे में जो बात कह रहा हू वह अलग है।

इन आठ आत्माओं के बारे मे इनके विश्लेषण को यदि ठीक तरह से ध्यान मे लेंगे तो यह समझ साफ हो जायगी कि कौन से आत्मीय गुण ऐसे हैं जिनको अपना कर उनका यथोचित रीति से विकास किया जाना चाहिये तथा कौन से ऐसे गुण या दुर्गुण हैं जिनको आत्मा ने वर्तमान मे अपने जड़-सम्पर्क के कारण पकड़ रखे हैं और जिनको छोड़े बिना आत्मीय स्वरूप की उज्ज्वलता उपलब्ध नहीं हो सकेगी। ये दोनो पक्ष ध्यान मे आ जायेंगे और तदनुसार आचरण में उतर जायेंगे तो परमात्म स्वरूप की प्राप्ति लक्ष्य के प्रति अपनी आत्मा का समर्पण भी सफल हो जायगा। भगवान् के चरणों में अर्थात् श्रुत एवं चारित्र्य-धर्म की आराधना मे किस आत्मरूप का किस विधि से अर्पण किया जाय—यह तथ्य भी आठ प्रकार की आत्माओ के स्वरूप अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा।

आठ आत्माओं का स्वरूप

है और इस शरीर पिंड के साथ रह रही है तो अपने मूल रूप की दृष्टि से इसको द्रव्य आत्माओं की सज्ञा दी गई है। चू कि द्रव्य रूप मूल रूप है अत द्रव्य आत्मा सिद्धों के भी होती है। आत्मा के असख्य प्रदेश माने गये हैं। ये असंख्य प्रदेश आत्मा को द्रव्य रूप प्रदान करते हैं। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा का जो रूप है उसका द्रव्य आत्मा नामकरण है। इस द्रव्य आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होने से रूपी आत्मा कहलाती है। इस रूपी आत्मा की स्थिति जड रूप मे भी होती है और चैतन्य रूप मे भी होती है।

रूपी आत्मा का स्वरूप दोनों प्रकार से जड और चैतन्य रूप मे कैसे होता है – यह समझने लायक बात है। जब यह आत्मा शरीर मे रहती हुई अपने शरीर की गति सिद्ध स्वरूप के तुल्य बनने की दिशा मे आगे बढ़ती है और इस द्रव्य आत्मा का चिन्तन करती है तब वह चैतन्य रूप द्रव्य आत्मा कहलाती है लेकिन जब वही आत्मा अपने ध्यान को इस शरीर के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की तरफ एकाग्र बना लेती है जो जड तत्त्व है तो उस समय उसके उस स्वरूप को जड द्रव्य आत्मा कह सकते हैं। वस्तुत वह है चैतन्य आत्मा ही। यह विश्लेषण नयो के दृष्टिकोण से किया जाता है। तो यह द्रव्य आत्मा एक मनुष्य शरीर मे है, वहा वह शरीर की दृष्टि से रही हुई है ऐसी अवस्था मे पहले उसको अपने शरीर का ख्याल है और बाहर से उसको धन–वैभव का ख्याल है। अभी मैं आपको द्रव्य आत्मा के सूक्ष्म स्वरूप तथा भेद–प्रभेदो मे नही ले जा रहा हू।

दूसरी आत्मा कहलाती है कषाय आत्मा। जिस समय मनुष्य को क्रोध आता है अथवा प्रकृति मे दूसरे किसी भी विकार की उत्तेजना उत्पन्न होती है तो उस समय वह आत्मा कषाय आत्मा का रूप ले लेती है। कषाय के चार भेद कहे गये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जब यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को भुलाकर क्रोध के वशीभूत हो जाती है, उस समय इस आत्मा को ज्ञानीजनो ने कषाय आत्मा कहा है। यह कषाय आत्मा किसी दूसरे शरीर मे नही होती है अथवा कोई दूसरी आत्मा नही होती है। यह तो कषाय मे रत होने की दृष्टि से इसी आत्मा का कषाय रूप होता है जो भावनात्मक रूप है। चाहे यह आत्मा क्रोध कर रही हो, मान के अह मे मस्त हो रही हो, माया की गलियो मे टेढी–टेढी चल रही हो या लोभ के रग मे रग रही हो— इन चारो ही कषायो के अधीन होकर यह आत्मा उस रूप मे कषाय आत्मा कहलाती है। उस समय यह कषाय आत्मा बनकर अपने मूल स्वरूप की शुद्धता को भूल जाती है। जिस समय उग्र क्रोध का भाव

देखा होता है, यह अपनी आन्तरिकता को भी भुला देती है तो बाहरी व्यवहार का भी भूल जाती है। क्रोध की अवस्था में सामने पिता आते हैं या अन्य वृद्ध जन आते हैं तब उसको ख्याल नहीं रहता है कि किस के सामने किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये? तात्पर्य यह है कि आत्मा उस समय में मुख्य रूप से कषायों से संलग्न हो जाती है, अतः उस रूप में उस को कषाय आत्मा के नाम से पुकारते हैं।

तीसरी आत्मा है योग आत्मा। जब यह आत्मा शरीर को सवारने में जुट जाती है शरीर को धोती है, साफ करती है, तेल मर्दन करती है; उबटन लगाती है, सजाती है तथा शरीर के निर्वहन की दृष्टि से जितने भी कार्य करती है, उस समय इसको शरीर का ध्यान मुख्य रूप से होता है। मन, वचन और काया के सभी योग शरीर के लिये कार्य रत रहते हैं अतः उस समय इस आत्मा को योग आत्मा कहकर पुकारते हैं। यह तीसरी आत्मा भी इसी शरीर में है, अन्यत्र कहीं नहीं। अभिप्राय यह है कि यही आत्मा जब योग व्यापार की विविध दिशाओं में संलग्न होती है तब योग आत्मा कहलाती है।

में होती है। ज्ञान भाव की प्रधानता जब होती है तो उसे ज्ञान आत्मा कहते हैं।

छठी आत्मा है दर्शन आत्मा। जब आप श्रद्धान करके किसी साधना मे विश्वास रखते हैं तो मुख्यतया विश्वास करने वाली आत्मा उस समय में दर्शन आत्मा के नाम से कही जाती है अथवा वस्तु के सामान्य स्वरूप मे जिस समय आत्मा का उपयोग होता है वह भी दर्शन आत्मा से सम्बोधित की जाती है।

सातवीं आत्मा का नाम चारित्र आत्मा है। विश्वास के अनुरूप आचरण करने की स्थिति जब मुख्य रूप से आती है और उस स्थिति को जब व्यवहार मे लाते हैं, तो उस समय इस आत्मा का चारित्र आत्मा कहते हैं। वह आचरण भी इसी आत्मा से तथा इसी शरीर मे रहने वाली आत्मा से होता है।

आठवीं आत्मा का नामकरण किया गया है बल वीर्य आत्मा। जब शक्ति या शरीर का बल लगाकर किसी कार्य को करने की अभिलाषा बनती है तथा आत्मा वैसे बल वीर्य को प्रयोग मे लेने लग जाती है तो उस समय उस बल वीर्य की प्रधानता से उस आत्मा के रूप को बल वीर्य आत्मा कह देते हैं। इसी आत्म-भाव के सहारे मनुष्य हिलता डोलता है, उठता बैठता है तथा अन्य प्रकार की क्रियाए करता है।

अब आप बताइये कि एक ही शरीर मे आठ प्रकार की आत्माए निवास कर रही हैं अथवा नही ? जैसे पानी-पानी के रूप मे है, लेकिन वह पानी कुए का हो सकता है या तालाब, नदी, नाला, कुड, टाका आदि का हो सकता है। फिर भी वह मूल मे तो पानी ही कहलायगा। नाम अलग-अलग है, पर पानी एक ही है। वैसे ही इस शरीर पिंड मे आत्मा तो एक ही है परन्तु भिन्न-भिन्न पर्यायो की दृष्टि से आत्माए आठ बताई गई हैं। इनके सूक्ष्म भेद अलग-अलग हैं। इन आत्माओ के रूप जब शुभता और शुद्धता धारण करते हैं तो ये ही इस आत्मा के मूल स्वरूप को उज्जवल बनाने मे योग देते हैं। यह शुभता और शुद्धता जब व्यापक रूप से मानव जीवन मे उतरती है तभी आत्मोत्थान की दिशा स्पष्ट बनती है और आत्मा की उस दिशा मे प्रगति होती है। इस प्रगति के फलस्वरूप ही आत्मा का समर्पण प्रभु के चरणो मे सभव बनता है।

आत्मानुसंधान का फल : मोक्ष

मैं आपको एक ऐसा रूपक देदू जिससे आप आत्मा के इन आठ रूपों को अच्छी तरह से हृदयगम कर सकें। पच्चीस बोल सीखते समय आपने

शब्द भी सीख लिये, लेकिन अर्थ का भलीभांति अनुसंधान नहीं करने से शब्द रटे ही रटे हुए याद रह गये। जब आप अर्थ की दृष्टि से अर्थ समझ कर शब्दों को उपयोग में लेंगे तो इन आठों रूपों को समझ लेंगे तथा वे रूप आपको सदा के लिये याद रह जायेंगे। अर्थ को पूरी तरह समझे बिना कोई भी बोल ठीक तरह से याद नहीं रहता है और याद नहीं रहता तो उसको उपयोग भी नहीं कर सकते हैं।

एक मजदूर था। वह बहुत गरीब था। एक वक्त का भोजन भी उसको पूरा नहीं मिलता था। जो मिल जाती वह मजदूरी करता और किसी तरह अपना गुजारा करता था। अधभूखा और अधनगा रह कर अपनी जिन्दगी बिता रहा था। संयोगवश एक दिन वह एक सेठ के घर पहुंचा और गिडगिडा कर कहने लगा—सेठजी, मुझे रोटी के भी लाले पड रहे हैं और आप दयालु हैं मुझे अपने यहां नौकर रख लीजिये, आप चाहे जैसे रखिये। सेठ ने देखा कि सस्ता नौकर मिल रहा है तो उसको रोटी कपड़े में नौकर रख लिया। अब वह सेठ के घर काम करने लगा।

उसने यह समानता महसूस नहीं की कि जैसी महात्मा के अन्दर आत्मा है वैसी ही आत्मा नौकर के अन्दर भी है तथा वैसी ही आत्माए उसके परिवार जनो के अन्दर भी हैं। महात्मा ने भिक्षा के लिये पात्र खोला तो सेठ ने झट से घेवर, जो घर में ताजा बने थे, बेहराने की चेष्टा की। महात्मा ने मना कर दिया कि उन को घेवर नहीं चाहिये। सेठ ने बहुत जिद की, फिर भी महात्मा ने घेवर का एक टुकडा भी नही लिया। उन्होने कहा–अनावश्यक आहार मैं नही ले जाता हू–रोटी गेहू बाजरी की जैसी भी हो, दे दो। सेठ ने फुलका बेहराते हुए फिर भी घेवर का एक टुकड़ा महात्मा के पात्र मे डाल ही दिया।

उस समय घेवर और घेवर के आग्रह को वह नौकर देख रहा था। वह सोचने लगा कि नहीं लेने पर भी सेठ महात्मा को तो जबरदस्ती घेवर दे रहे हैं, लेकिन मेरे चौबीसों घण्टे उनके घर के सारा काम काज करने पर भी मुझे घेवर दिखाया तक नही, बल्कि रोटी भी कभी ठीक ढग की नही देते। इसका मतलब है कि महात्मा में कुछ न कुछ जादू जरूर है। मौका देखकर वह भी महात्मा के पीछे-पीछे चला गया। अपने स्थान पर पहुंच कर महात्मा ने पात्र खोला तो वह नौकर उनके चरणों मे गिर पड़ा और कहने लगा–महात्मा जी, आपमे क्या जादू है जो सेठ आपको घेवर दे रहे थे, मैं उनका इतना काम करता हू पर उन्होने मुझे कभी घेवर चखाया ही नही। आप दो चार घेवर ले आते और मुझे दे देते। महात्मा ने समझाया–साधु गृहस्थ से भिक्षा लाते हैं उसे गृहस्थ को दे नहीं सकते हैं। हां, तुम साधु बन जाओ और साधु मर्यादा से चलो तो हम आहार लाकर तुमको दे सकते हैं। नौकर भोला-भाला था, बोला–तो मुझे साधु बनालो, मुझे घेवर खाने हैं।

महात्मा कुछ विचित्र थे। उन्होने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखा और सारी तपास करके उसको साधु बना लिया। तब उसने कहा–अब तो मुझे घेवर खिलादो। सतो को किसी बात की कमी नही है-दातार बहुत मिलते हैं। कभी प्रसंग आया तो घेवर ला दिया। नया सन्त ज्ञान सीखने लगा सीखते-सीखते उसको आत्मा का बोध हुआ। उसने द्रव्य आत्मा को समझा। शरीर पिंड के साथ आत्मा है जो स्वतत्र है लेकिन कर्मों की दृष्टि से शरीर पिंड मे पड़ी हुई है। उसका विवेक जागा और उसने सोचा कि यह आहार जड पदार्थ है और मेरी आत्मा चैतन्य है, फिर इस जड पदार्थ मे मेरी आसक्ति क्यों? यह मेरी भूल है। उसकी आसक्ति हटती गई। उसने आहार को जड स्वरूप समझा, फिर द्रव्य आत्मा के चैतन्य रूप की तरफ उसका ख्याल गया।

फिर उसने सोचा–यह कषाय-आत्मा का रूप भी मेरे साथ लगा हुआ है जिसके कारण आत्मगुण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उसने कषाय वृत्तियों का भी त्याग कर दिया। फिर उसका आत्म सिद्धि के स्वरूप की तरफ उपयोग लगा तो ज्ञान शक्ति की ओर ध्यान गया और श्रद्धा मजबूत बनी। जो चारित्र्य उसने वेश्या लाने के लिये लिया था, उसको उसने आत्म 'विकास' में लगा दिया और आत्म-पुरुषार्थ करने लगा। शास्त्रकारों ने बताया है कि चारित्र भी कई निमित्तों से लिया जाता है, इनमें से एक निमित्त यह भी है।

वह मन वचन-रूप में जेवर-आदि सारी चीजों से दूर रहने लगा तथा उसने अनासक्त भाव ग्रहण कर लिया। वह ज्ञान-आत्मा, चारित्र आत्मा, उपयोग आत्मा आदि का स्मरण करता हुआ आत्मा के सिद्ध स्वरूप का अनुसंधान करने लगा। उसने सोचा कि भगवान् का बताया हुआ मार्ग श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म रूप है, इसमें मेरा जीवन समग्र भाव से समर्पित हो जाता है तो मैं स्वयं भगवान् बन जाता हूँ। ऐसी दृढ़ता से उसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया तथा वह मोक्षगामी बन गया।

महान् शक्ति का स्रोत : सर्वस्व समर्पण

बनना चाहिये। आप तपस्या करते हैं, दया व्रत, पौषध, सामायिक आदि भी लेते हैं, लेकिन जब तक भगवान् के चरणो मे समर्पण करने की तथा उस नौकर की तरह सर्वथाभावेन समर्पण करने की स्थिति नही बनती है, तब तक आत्म विकास के मुख्य द्वार नहीं खुलते हैं।

सर्वस्व समर्पण करने की भावना से जब जीवन मे चलेंगे, तभी जीवन मे महान् शक्ति का उदय हो सकेगा। अस्थायी रूप से थोडा थोडा भी आत्मीय भावों से अर्पण करने का प्रयास करेंगे तब भी धीरे धीरे सही लेकिन कार्य आगे बढ सकेगा। स्वल्प भी हो लेकिन प्रगति होती रहे तो एक दिन लक्ष्य तक भी पहुच सकने मे बाधा नहीं रहेगी। मगलाचरण के रूप मे किया गया प्रारंभ भी तो स्वल्प ही होता है, परन्तु साधना के चरण निरन्तर अग्रगामी बनते रहें तो वह साधक स्वय भी मगलाचरण का पात्र हो जाता है।



आरे की समाप्ति तक का उन्होंने निर्देश दिया। भगवती सूत्र के अन्दर भगवान् महावीर ने बतलाया है कि मेरा शासन अबाध रूप से २१ हजार वर्ष तक चलेगा तथा बीच मे किसी प्रकार से विच्छेद नही होगा। यह अवश्य है कि प्रभावशीलता मे न्यूनाधिकता हो सकती है। कभी विशिष्ट प्रभावना होगी तो कभी सामान्य रूप से प्रचलित रहेगा, लेकिन इस का सचालन निरन्तर उत्तम अवधि तक चलेगा। यह जो प्रभु का उद्घोष है, इससे यह निश्चय होता है कि इस पचम काल मे प्रभु का शासन जिस रूप मे चल रहा है, उस रूप में कई भव्य आत्माए इसमे प्रवेश ले करके आगमो पर गहरा चिन्तन कर रही हैं और करेंगी, जिसके परिणाम स्वरूप आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना रहेगा तथा आत्म स्वरूप का विश्लेषण स्पष्टतर बनता जायगा। आत्म-सिद्धि के प्रसग से भी उल्लेखनीय सहयोग मिलेगा तथा जन-जीवन के समक्ष यह व्यवहारिक रूप से प्रकट होगा कि इस आत्मा को शुद्ध सौ टच का सोना बनाने की दृष्टि से किस प्रकार की कठिन साधना की अग्नि मे तपानी होगी ?

भगवती सूत्र के अन्दर वर्णित आठ प्रकार की आत्माओं अर्थात् आत्मा की आठ प्रकार की पर्यायों का सकेत दिया गया है। ये पर्यायें इस शरीर मे रहने वाली आत्मा से ही उसके किसी विशिष्ट-गुण की प्रधानता के कारण भिन्न-भिन्न रूप मे अभिव्यक्त होती हैं। अपनी पर्यायों के अधीन होकर यह आत्मा एक होते हुए भी आठ अलग-अलग नामो को अगीकार करती है।

मनुष्यता की दृष्टि से मनुष्य एक होता है, लेकिन वही मनुष्य अलग-अलग अपेक्षाओ की दृष्टि से अलग-अलग रूप या सम्बोधन वाला कहा जा सकता है। वही मनुष्य कभी किसी का पुत्र तो कभी किसी का पिता हो जाता है, कभी भाई तो कभी चाचा कहलाता है। कभी वह किसी पद पर रह कर या किसी धंधे में काम करके उसके अनुसार अधिकारी, वकील या व्यापारी कहलाता है तो कभी राजनीति मे भाग लेकर मत्री प्रधानमत्री, और राष्ट्रपति भी कहला सकता है। व्यक्ति एक ही होता है लेकिन अपनी अलग-अलग हैसियतो से वह अलग-अलग नाम धरा सकता है अथवा नही ? जैसे एक व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिकोणो से कई नाम दिये जा सकते है, उसी प्रकार आत्मा तो इस मानव शरीर मे मूल रूप से एक ही होती है, लेकिन जब इस आत्मा की पर्यायें भिन्न-भिन्न रूप मे बदलती हैं तो पर्यायो की दृष्टि से इसी आत्मा की सज्ञाएं भिन्न-भिन्न रूप मे विश्लेषित की जाती हैं।

पर्यायो की दृष्टि से ही भगवान् महावीर ने आठ प्रकार की आत्माओ की बात कही है। जब इस पर्याय दृष्टि को गौण करलें तथा द्रव्य दृष्टि को

आभूषण बनाये तो तीसरे से माथे का जेवर बनवाया। अब वही सोना इन तीन नामों से भिन्न-भिन्न रूप में पुकारा जाने लगा। सोना वही था, परन्तु एक रूप का नाम चेन, दूसरे रूप का नाम कान के आभूषण और तीसरे रूप का नाम माथे का जेवर हो गया। इसी तरह पचासो प्रकार के जेवर बनाये जा सकते हैं तथा एक ही प्रकार के सोने को पचासो नामो से पुकार सकते हैं।

सोने के अलग-अलग आभूषणो को अलग-अलग नाम से पुकारते हैं—यह पर्यायो का भेद है। अलग-अलग रूप होते हुए भी सभी आभूषणो मे द्रव्य रूप से एक ही स्वर्ण रहा हुआ होता है और जो उसके ही अलग-अलग रूप होते है, वे उसी स्वर्ण की पर्यायें होती हैं। वैसे ही एक आत्मा की आठ पर्यायें होती हैं जिनको द्रव्य आत्मा आदि आठ नामो से पहिचानते हैं। यही नहीं, पर्यायों की दृष्टि से विस्तृत रूप से विचार करें तो इसी आत्मा के अनेक भेद हो सकते हैं। एक-एक पर्याय के पीछे एक-एक नाम लिया जाय तो आत्मा के अनन्त नाम ले सकते हैं। अनन्त अर्थात् गिनती के हिसाब से जिनका अन्त ही नही आवे। उन्हीं अनन्त नामो के आठ नाम सक्षिप्त रूप हैं तथा इन पर्यायो को और भी सकोच करके देखें तो समस्त आत्माओ को तीन भागो मे भी विभक्त कर सकते हैं। ये तीन विभाग इस प्रकार से हो सकते है— १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा तथा ३ परमात्मा।

सोना और उसकी पर्यायों के रूप से ही आत्मा मूल तत्व के रूप से तथा उसके रूपान्तरणो के रूप में विचारणीय तत्व है।

बहिरात्मा का स्वरूप :

आत्मा के जो तीन रूपान्तरण बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के नाम से बताये गये हैं, उनको स्वरूप-तारतम्यता की दृष्टि से समस्त आत्माओं की तीन श्रेणियां मान सकते हैं। इस विचार से बहिरात्मा किसको कहें? नाम से ही जाहिर हो रहा है कि जो आत्मा बाहर ही बाहर भटकती है, वह बहिरात्मा होती है। बाहर का तात्पर्य अपनी भाषा में समझते हैं कि घर से जो बाहर होता है वह बाहर कहलाता है। आत्मा का घर कहां है? आत्मा अपने घर से बाहर किस रूप मे भटकती है?

आत्मा का जो घर कहलाता है, वह उसका अपना स्वरूप-अपना स्वभाव होता है। अपने स्वरूप एवं स्वभाव को भूल कर जो आत्मा दूसरे तत्वों के गलत स्वरूप को पकड कर अपने स्वभाव को विकृत बनाती रहती है, वह आत्मा बहिरात्मा होती है। जैसे किसी बच्चे का अपने घर मे रहने का

सूर्य चलता है तो किरणें साथ-साथ चलती हैं, उसी प्रकार जो चीज जिसकी होती है, वह उसके साथ रहती है और अभिन्न रूप से रहती है। और अंधेरा सूर्य का है क्या ? वह अंधेरा सूर्य का नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि वह सूर्य के साथ-साथ नहीं चलता और नहीं रहता। बल्कि दोनों का एक साथ अस्तित्व रहता ही नहीं है। सूर्य का उदय होता है तो अंधेरा भाग जाता है तथा सूर्य के अस्त हो जाने पर ही वह वापिस दिखाई देता है। तात्पर्य यह है कि जिसके रहने पर जो न रहे, छिप जाय अथवा जिसके जाने पर जो आवे, वह उसका नहीं है। वह तो भिन्न तत्व हो जायगा।

अन्तरात्मा का चिन्तन

सूर्य और उसकी किरणों की दृष्टि से आप अपने साथ उस जेवर के सम्बन्ध की तुलना करें। वह जेवर जब चोरी चला गया तो इस आत्मा के रहते हुए भी उससे दूर चला गया—उससे छिन गया। यह आत्मा जब परलोक के लिये रवाना होगी तब भी यह जेवर उससे यहीं छूट जायगा। तो जो जिसके साथ चलता नहीं, उसके रहने पर भी उससे दूर चला जाता है—अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है तो उस जेवर को यह आत्मा अपना माने—यह कहां तक सही है ? आप ईमानदारी से निर्णय करें। कभी फैसला देने का प्रसंग आवे तो क्या फैसला देंगे ?

मैं समझता हूं, कई भाई अपने पास बुद्धि की शक्ति रखते हैं और बोलने की कला भी रखते हैं। लेकिन अपनी बुद्धि का प्रयोग वे इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने में कम करते हैं। प्रायः नहीं करते हैं। यह कहना चाहिये कि उनकी बुद्धि का प्रयोग अथवा बोलने की कला का उपयोग उन्हीं तत्वों से सम्बन्ध जोड़ने में करते हैं जो वस्तुतः इस आत्मा के अपने नहीं होते हैं। यह आत्मा चैतन्य स्वरूप है—ज्ञान स्वरूप है, जैसा कि सूर्य होता है। आत्मा की अपनी शक्तियां उसकी किरणों के समान होती हैं। और जेवर या जितने ये बाहरी पदार्थ हैं, वे सब जड़ होते हैं, जैसे कि अंधेरा होता है। अब बताइये कि क्या सूर्य का अंधेरे के साथ अपना कोई सम्बन्ध होता है ? सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं, बल्कि जहां सूर्य होता है, वहां अंधेरा रहता ही नहीं है। उसी प्रकार से चेतन और जड़ तो एकदम विपरीत तत्व होते हैं। चेतन का जड़ के साथ सम्बन्ध प्राकृतिक नहीं है और इसी कारण जब तक चेतन इस जड़ के साथ अपना सम्पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर देता है, तब तक उसका पूर्ण कल्याण भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जो आत्म-स्वरूप पर चिन्तन करती है, वह अन्तरात्मा कहलाती है।

आत्माएं अपनी प्राप्त शक्तियों को व्यर्थ की बातों में बरबाद करती रहती हैं। बहिरात्माएं चाहे राजा के रूप मे या सेठ के रूप मे हो—अधिकारी के रूप मे हो या वकील अथवा नेता के रूप मे हों—लेकिन आत्म-शक्तियों का दुरुपयोग सब जगह होता है—यह अधिकाश तथ्य है। इसलिये तथ्यात्मक परिस्थितियों पर निरन्तर विचार करना चाहिये तथा अपनी आत्मा को—उसकी वृत्तियो को बाहर से समेट कर आत्मस्थ बनाने का अभ्यास करना चाहिये ताकि अपनी आत्मा अन्तरात्मा बनकर अपने स्वरूप को पहिचाने एवं स्वरूप की मलिनता को पूरी तरह धोने का प्रयास करे।

आत्मा की शक्तियों का सदुपयोग करें :

बहिरात्माएं आत्म-चिन्तन के पश्चात् जब अन्तरात्माओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं तो वे अपनी वाणी का तथा अन्य आत्मिक शक्तियों का सदा सदुपयोग करने लग जाती हैं। आप जानते हैं कि रेगिस्तान मे पीने के पानी की कमी होती है, अब कोई उस पीने के पानी से अपने मकान की छतें धोने लगे या रास्ते पर व्यर्थ बहाने लगे तो क्या उसका वह सदुपयोग होगा? वह उसका दुरुपयोग कहलायगा। पीने के लिये उस पानी को काम मे लेंगे तो उसका वह सदुपयोग कहलायगा। जिसका जो सही उपयोग है, उससे भी उसका श्रेष्ठ उपयोग करने वाला उसका सदुपयोग करता है।

अब आपको वाणी की शक्ति मिली है या इन्द्रियो तथा मन की अन्य शक्तिया मिली हैं तो उनका सही उपयोग यह है कि वे अन्तरात्मा के हित मे कार्यरत हो। उनको अधिकाधिक निष्ठा के साथ स्व-पर कल्याण मे नियोजित करें—यह उनका सदुपयोग है। इस रूप मे बाहर के झूठे सम्बन्धो से तटस्थ बन जाने वाली अन्तरात्माए अपनी वाणी का तथा अन्य शक्तियो का सदा आत्म-हित मे सदुपयोग करती हैं।

अकबर बादशाह का एक किस्सा है। एक बार अकबर काजी, हाजी और बीरबल साथ-साथ बैठे हुए थे। उस वक्त बीरबल का विचार हुआ कि बादशाह के साथ कुछ धर्म चर्चा की जाय। इतने मे काजी ने चर्चा छेड दी कि बादशाह एवं हमारे पूर्वजो ने क्या-क्या बड़े-बडे काम किये? यह बीरबल को अच्छा तो नही लगा पर जब बात चल गयी तो उसने भी बीच में कहा—सभी अच्छी बात सुनावें और सच्ची बात सुनावें और सच्ची बात सबको मजूर करनी पड़ेगी तथा जो मजूर नहीं करेगा उसको एक लाख मोहरें देनी पड़ेंगी। शर्त मजूर हो गई।

यही कहना चाहता हूँ कि अपनी बुद्धि और वाणी की शक्ति का सदुपयोग करो। ये शक्तिया बहुमूल्य होती हैं—इनके दुरुपयोग से भारी हानि होती है तथा सदुपयोग से समुन्नत जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

चरम विकास ही परमात्म स्वरूप

मैं सकेत दे रहा हूँ कि बहिरात्मा के क्रम को बदल कर अन्तरात्मा की अन्तर्ज्योति जलनी चाहिये क्योंकि यही ज्योति जब परम पावन हो जाती है तो वही आत्मा परमात्मा बन जाती है। जैसा द्रव्य रूप से सब सोना एक सा होता है, वैसा ही मूल स्वभाव की दृष्टि से सभी आत्माएं सम-स्वरूपी होती हैं। पर्याय की दृष्टि से सोने मे भेद यही होता है कि कोई सोना दो मासी बट्टे का है तो कोई कम बट्टे का—कोई ६६ टच का सोना है तो कोई १०० टच का शुद्ध सोना होता है। सोना सब एक सा है, मगर अशुद्धता और शुद्धता का भेद होता है। उसी प्रकार बहिरात्मा आत्मा का अशुद्ध स्वरूप होता है, जब आत्मा अपने स्वरूप और स्वभाव से हट कर नाशवान तत्वों मे रम जाती है तथा उस व्यामोह मे अपने को विभाव की विकृति मे पतित बना लेती है।

परन्तु जब आत्मा मे जागृति आती है-विचारो मे क्रान्ति फैलती है तो वह अपने स्वरूप की तरफ देखती है - अपने स्वभाव को पहिचानती है, तब उसका निजत्व उभरता है और वह अपने ही स्वरूप एव स्वभाव मे स्थित होने का प्रयास करती है। यह प्रयास ही आत्मिक साधना होती है तथा करने वाली अन्तरात्मा होती है। अन्तरात्मा का ही उच्चतम विकास परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के रूप में प्रतिफलित होता है।

देखिये, यह विषय आत्मा का है तथा आत्मा तो अगाध समुद्र के गुण से भी परे है। इस गहन आत्म—स्वरूप को थोडे से समय में कैसे समझा जा सकता है? कुछ बात आपके सामने रखी हैं, उनको अपने ध्यान में लीजिये और अपनी शक्ति को इस तरह मोडिये कि बट्टे का सोना सौ टंच का सोना बन सके। मिलावटी सोने की उतनी कद्र नही होती है और मलिन आत्मा तो पापात्मा कहलाती है। इसलिये अपनी आत्मिक शक्तियों का सदुपयोग कीजिये और आत्माओ के स्वरूप की समानता को समझते हुए उसे उज्ज्वलतम बनाइये।



यही कहना चाहता हूँ कि अपनी बुद्धि और वाणी की शक्ति का सदुपयोग करो। ये शक्तियां बहुमूल्य होती हैं—इनके दुरुपयोग से भारी हानि होती है तथा सदुपयोग से समुन्नत जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

परम विकास ही परमात्म स्वरूप

मैं संकेत दे रहा हूँ कि बहिरात्मा के क्रम को बदल कर अन्तरात्मा की अन्तर्ज्योति जलनी चाहिये क्योंकि यही ज्योति जब परम पावन हो जाती है तो वही आत्मा परमात्मा बन जाती है। जैसा द्रव्य रूप से सब सोना एक सा होता है, वैसा ही मूल स्वभाव की दृष्टि से सभी आत्माएं सम-स्वरूपी होती हैं। पर्याय की दृष्टि से सोने में भेद यही होता है कि कोई सोना दो मासी बट्टे का है तो कोई कम बट्टे का—कोई ९९ टंच का सोना है तो कोई १०० टंच का शुद्ध सोना होता है। सोना सब एक सा है मगर अशुद्धता और शुद्धता का भेद होता है। उसी प्रकार बहिरात्मा आत्मा का अशुद्ध स्वरूप होता है, जब आत्मा अपने स्वरूप और स्वभाव से हट कर नाशवान तत्वों में रम जाती है तथा उस व्यामोह में अपने को विभाव की विकृति में पतित बना लेती है।

परन्तु जब आत्मा में जागृति आती है-विचारों में क्रान्ति फैलती है तो वह अपने स्वरूप की तरफ देखती है - अपने स्वभाव को पहिचानती है, तब उसका निजत्व उभरता है और वह अपने ही स्वरूप एवं स्वभाव में स्थित होने का प्रयास करती है। यह प्रयास ही आत्मिक साधना होती है तथा करने वाली अन्तरात्मा होती है। अन्तरात्मा का ही उच्चतम विकास परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के रूप में प्रतिफलित होता है।

देखिये, यह विषय आत्मा का है तथा आत्मा तो अगाध समुद्र के गुण से भी परे है। इस गहन आत्म-स्वरूप को थोड़े से समय में कैसे समझा जा सकता है? कुछ बातें आपके सामने रखी हैं, उनको अपने ध्यान में लीजिये और अपनी शक्ति को इस तरह मोड़िये कि बट्टे का सोना सौ टंच का सोना बन सके। मिलावटी सोने की उतनी कद्र नहीं होती है और मलिन आत्मा तो पापात्मा कहलाती है। इसलिये अपनी आत्मिक शक्तियों का सदुपयोग कीजिये और आत्माओं के स्वरूप की समानता को समझते हुए उसे उज्ज्वलतम बनाइये।



आन्तरिकता में प्रवेश करें

सुमति चरण रज, आतम अर्पण, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी॥

इस मानव जीवन में दृष्टि का विशेष महत्त्व रहा हुआ है। दृष्टि के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ प्रायः सब जानते हैं कि हम जो आंखों से देख रहे हैं, वह जो आंखों से देखने की स्थिति है—उसको दृष्टि कहते हैं। यह दृष्टि तो किन्हीं के सिवाय सबको प्राप्त है। मानव इस दृष्टि से मात्र अपने वर्तमान जीवन के बाहरी दृश्यों को देख रहा है। अन्य प्राणी भी—चाहे चौइन्द्रिय या पचेन्द्रिय के रूप में हों-जिनको चक्षु-दृष्टि प्राप्त है, वे दृष्टिवान कहलाते हैं इस बाहर की चमड़े की आंखों की दृष्टि से। लेकिन इस दृष्टि से पूरा नहीं दिखाई देता है। इसमे समग्र वस्तु-स्वरूपो को देखने की क्षमता नहीं होती है। दृश्य पदार्थ भी सबके सब इस दृष्टि से नही दिखाई देते हैं। स्वय के पास दृष्टि है लेकिन स्वयं की पीठ को यह दृष्टि नही देख पाती है। तो स्वयं की पीठ को भी जब देखने की क्षमता इसमे नहीं है और अन्य स्थूल पदार्थ जो भी सामने आवें, उन सब पदार्थों को पूर्ण रूप से भी यह दृष्टि नहीं देख सकती है तो भला आत्मा के स्वरूप को यह कैसे देख सकेगी ?

यह दृष्टि रूपी-आत्मा को अवश्य देख सकती है। कर्मयुक्त जो आत्मा है, वह रूपी आत्मा है। उसकी हलचल से-उसकी चहल-पहल और रौनक से अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि इस शरीर-पिंड में भी एक विशेष तत्व समाहित है।

जे अनन्नदशी से अनन्नाऽरामी :

प्रभु महावीर ने आत्म-स्वरूप का विश्लेषण करते हुए आचारांग सूत्र में महत्त्वपूर्ण उद्घोषणा की है कि—

जे अनन्नदंशी से अणण्णाऽरामी ।

जे अनण्णाऽरामी, से अनन्नदशी ।।

आचारांग सूत्र प्रभु महावीर की प्रथम देशना है—प्रथम उपदेश है। आप जानते हैं ! प्रथम उपदेश कितनी महानता और कितनी गहनता लिये हुए होता है ? इसका अनुमान शायद ही सबको हो । शब्द सरल हैं लेकिन अर्थ गहन है । इस पद का अर्थ यह है कि जो अनन्य दर्शन करने वाला है, वह अनन्य आराम करने वाला है तथा जो अनन्य आराम करने वाला है, वह अनन्य दर्शन करने वाला है । आराम का अर्थ यहां पर विश्राम से नहीं है । इसका अर्थ होता है परम शान्ति की परम वेला में रमना । इस समास को यदि अलग करके देखें तो उसका अर्थ होता है अनन्य दृष्टि । यहां दृष्टि से तात्पर्य उस भीतरी दृष्टि से है जो आत्मा के ज्ञान चक्षुओ से प्रकट होती है । यह दृष्टि एक विशिष्ट शक्ति होती है जिसके द्वारा आत्मा अपने पवित्र स्वरूप को देख सकती है । लेकिन इससे भिन्न और आध्यात्मिक जीवन से अलग जो नाशवान पदार्थ हैं—जड तत्व तथा विकारी स्वरूपी हैं, उनको देखने की अन्तर की वृत्ति है । यह बाह्य वृत्ति है ।

लेकिन विडम्बना यह है कि इस आत्मा की भीतरी दृष्टि आज अधिकांशतः आध्यात्मिक जीवन के मूल धरातल की ओर न जाकर अधिकतर बाहर की ओर जा रही है—यह अन्य दृष्टि है । आत्मा की गहन शक्ति तथा आत्मा का उपयोग बाहरी पदार्थों का विज्ञान रखता है जबकि सही स्थिति यह है कि ये बाहरी पदार्थ इस आत्मा के लिये एक सीमा तक ही आवश्यक होते हैं । जिन बाहरी पदार्थों की आंशिक आवश्यकता होती है, उनकी प्राप्ति के प्रयासो में चौबीसों घन्टे बीतें और जीवन की समग्र प्रक्रिया उन्हीं के लिये लगी रहे—यह जरूर चिन्तनीय दशा है । आप जो धर्मस्थान में अभी बैठे हुए हैं—शायद ये कुछ ही क्षण ऐसे हैं, जहां उन प्रक्रियाओं से थोड़ी राहत मिलती है । इन्हीं क्षणों में अपने निज स्वरूप को देखने का अवसर आता है । यह कार्य भीतरी दृष्टि के यथोचित विकास के द्वारा किया जा सकता है ।

बाहरी पदार्थों मे जो दृष्टि रहती है, उस दृष्टि के द्वारा आत्मिक शक्तियों का अपव्यय होता है । यों दृष्टि रखना कोई बुरी बात नहीं है तथा दृष्टि खुली है तो उसके सामने जो भी आवेगा, वह दिखाई देगा । तात्पर्य यह नहीं है कि पुण्योदय से जो दृष्टि मिली है, उसको बंद करदी जाय । बाहरी पदार्थों की तरफ भी दृष्टि जा रही है और उस दृष्टि के साथ भी जो आत्मा

का रस बाहरी पदार्थों में बह रहा है और बाहरी पदार्थ जो मन में रमण कर रहे हैं—वह एक विकार पूर्ण अवस्था बन जाती है। अच्छा रूप जब देखने के लिये मिल जाता है तो मन सोचता है कि बड़ा आनन्द आ गया, यह उसमें रमण करना हुआ। यदि कोई फिल्मी गायन विकारी है और कर्णगोचर हो गया तो दिल ने जो प्रसन्नता मानी वह रमण करना है। जरा नवाले के साथ स्वाद आ गया तो मन उस नवाले मे रमण करने लग जाता है। इस तरह के बाहरी रमण इस मन को अच्छे लगते हैं। मन की ऐसी दृष्टि अन्य दृष्टि कहलाती है। यह दृष्टि अन्य को धारण करती है, अन्य में रमण करती है तथा अन्य में आनन्द लेने की कोशिश करती है। जो इस दृष्टि में आनन्द मानता है, उसके लिये समझिये कि उसकी दृष्टि बाहरी है, वह बहिरात्मा होती है।

बहिरात्मा मे उस भीतरी दृष्टि का अभाव पाया जाता है; जो अनन्य का दर्शन करती है। जो अन्य नहीं है, वह अनन्य होता है और ऐसा अनन्य आत्म-स्वरूप कहलाता है। बहिरात्मा की दृष्टि आत्म-स्वरूप को देखने में सक्षम नहीं होती है क्योंकि वह अन्य दृष्टि होती है।

अन्य और अनन्य दृष्टि :

बहिरात्मा को अन्य दृष्टि अपने को देखे बिना जड़ तत्वों में रस लेने की होती है। वास्तव में रस का स्रोत तो अपने ही भीतर होता है जो निज स्वरूप के दर्शन से प्राप्त हो सकता है। लेकिन अन्य दृष्टि वाली आत्मा उस रस को बाहर के पदार्थों में ढूंढने की चेष्टा करती रहती है। उसकी चेष्टा एक श्वान की चेष्टा के समान होती है। जैसे एक श्वान याने कुत्ता सूखी हड्डी को अपने मुंह में दबाकर उसको अपने दांतो से चबाता है। उसका मकसद होता है कि वह हड्डी खून से भरी हुई है जिसका रस उसको मिले। सूखी हड्डी मे तो खून होता नहीं है लेकिन उसको चबाने से उसके ही जबड़ों से खून रिसने लगता है और उसी खून को चखते हुए वह समझता है कि उसको हड्डी से खून मिल रहा है और वह खून का आनन्द ले रहा है। इस दृष्टि से वह अपनी शक्ति को लगाता है। उसके जबड़ों का खून उस सूखी हड्डी पर लगता रहता है और उस खून को देखकर वह समझता है कि उसने अपनी दांतों की शक्ति से हड्डी में से खून निकाल दिया है। वह उसको चाटता है और आनन्द मनाता है। लेकिन कब तक ? जब तक उसको दांतों की पीड़ा जोर से महसूस नहीं होती है।

इस श्वान को आप क्या समझेंगे ? उसको आप ज्ञानी कहेंगे अथवा अज्ञानी ? जो हड्डी सूखी पड़ी थी, भला उसमे खून कहाँ था ? लेकिन जो अपना ही खून निकाले और उसको चाटकर आनन्द मनावे तो यह दृष्टि अन्य दृष्टि है और आराम है । अपने ही खून को दूसरे का खून मानना—यह है बहिरात्मा का लक्षण । बहिरात्मा अपनी ही क्षति करती है और उस क्षति पर आनन्द मनाती है—यह घोर अज्ञान ही कहलाता है ।

कल मैंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के बारे में कुछ विवेचन किया था जिसका सकेत कवि ने प्रार्थना मे किया है—

त्रिविध सकल तनुधर गत आतम,
बहिरातम धुरि भेद-सुज्ञानी ।
बीजो अन्तर आतम तीसरो,
परमातम अविच्छेद, सुज्ञानी ॥

सुमति चरण रज आतम अर्पणा, ...तो यह आत्मा का त्रिविध भेद गहन विषय है । इस विषय को जब तक अच्छी तरह नहीं समझेंगे, अनन्य दृष्टि से नहीं देखेंगे, तब तक इसको हृदयंगम नहीं कर पायेंगे—सही ज्ञान नहीं आयगा और अनन्य आराम प्राप्त नहीं होगा ।

तो आप समझ गये होंगे कि कुत्ता अन्य दृष्टि वाला होता है और अपने ही खून को हड्डी का खून मानकर चलता है । इस प्रकार की वृत्ति कई मानव आकृति वाले जीवों मे भी है अथवा आत्माओं मे है । आकृति बड़ी सुन्दर है, पोषाक भी बढ़िया है, आधुनिक फैशन की नजर से सब साज-सज्जा उस को प्राप्त है, लेकिन यदि उसकी दृष्टि अन्य दृष्टि है और अन्य में आराम खोजने वाला है तथा अपनी आत्मा के स्वरूप को जाने बिना जड़ तत्वों को ही सब कुछ मानकर जड़ तत्त्वों मे रस लेने वाला, यह सोचता है कि यह आनन्दरूप अनुभूति जड़ तत्त्व की है। इस प्रकार उसका सोचना मिथ्या है। वास्तव में वह अनुभूति आत्मा का स्वभाव है । पर अज्ञान वश जो प्राणी अनुभूति को जड़ का स्वभाव मान लेता है वह चाहे मनुष्य ही क्यो न हो उसकी वृत्ति उस श्वान के तुल्य मानी जा सकती है। इसे बहिरात्मा के रूप मे समझना चाहिये। मनुष्य को यह चिन्तन करना चाहिये कि वह कितने अंशों मे बहिरात्मा है ? क्या वह पूर्णतया बहिरात्मा है और बहिरात्मा ही रहना चाहता है अथवा बहिरात्मा के रूप से उसको ग्लानि भी होती है ? वह विचार करता है और यथार्थता को पहिचानता है तो उसको ग्लानि भी पैदा होती है । ऐसी ग्लानि के पैदा होने

पर उसकी दृष्टि अन्य से छूटकर अनन्य बन सकती है तथा उसकी वृत्ति जड़ पदार्थों में रस लेने की वृत्ति से दूर होकर निज स्वरूप के दर्शन की तरफ मुड़ सकती है।

अनन्य दृष्टि की सहायता से ही अन्तरात्मा में प्रवेश :

भगवान् महावीर की दिव्य वाणी को हृदयगम करके जो अपनी दृष्टि अन्य में से निकाल कर उसे अनन्य बना लेता है, वही अपनी दृष्टि को आन्तरिक बनाता है। यह दृष्टि भीतरी होती है—ज्ञान की दृष्टि होती है। इस आन्तरिक एवं अनन्य दृष्टि की सहायता से ही अन्तरात्मा में प्रवेश करने का अवसर उपस्थित होता है। महावीर ने इसके साथ एक शब्द और जोड़ दिया है। वे कहते हैं—भव्यो, जो तुम्हारी अन्य दृष्टि है, वह नहीं रहे। अन्य दृष्टि रख कर तुम अपनी आत्मा से परे के पदार्थों में आनन्द की जो महसूसगिरी करते हो—वह झूठी महसूसगिरी है। इस अन्य दृष्टि से हटकर आत्मा की अमोघ एवं पवित्र शक्ति में अपनी दृष्टि लगाओ तो तुम अनन्य दर्शी बन जाओगे और उसमें जब वास्तविक सुख व आनन्द की अनुभूति करने लगोगे तो तुम अनन्य आरामी भी बन जाओगे। यह ऐसा आराम—ऐसा सुख होगा, ऐसी शान्ति मिलेगी, जो कभी नहीं छूटेगी, बल्कि निरन्तर बढ़ती जायगी। इस अनुभूति तथा शान्ति के फल स्वरूप तुम जीवन की विकास यात्रा में अग्रगामी बन जाओगे।

प्रभु के इस उपदेश को हृदयगम करने वाले मानव संसार के बीच में रहते हुए भी कमल के समान निर्लिप्त बन जाते हैं। इसीलिये ज्ञानी जन कविता के रूप में यों कह देते हैं—

सम्यक् दृष्टि आतमा,
करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर्गत न्यारो रहे,
ज्यूं धाय खिलावे बाल ॥

ऐसी होती है सम्यक् दृष्टि—अनन्य दृष्टि। ऐसा सम्यक् दृष्टि मानव संसार में रहते हुए भी अपने कुटुम्ब की प्रतिपालना इस दृष्टि से करता है जिस प्रकार एक धाय माता दूसरे के बच्चे को तटस्थ भाव से अपना स्तन पान कराती है। काम सांसारिक है फिर भी दृष्टि तटस्थ रहती है, इसलिये वैसी दृष्टि आध्यात्मिक बनती है सबको अपने मन में विचार करना चाहिये कि क्या अपनी दृष्टि तटस्थता की ओर गति कर रही है? क्या ऐसी भीतरी दृष्टि का निर्माण हो रहा है?

बहिरात्मा के स्वभाव को समझ कर आत्मा के इस बहिस्वंरूप का परित्याग करें। भावना, दृष्टि और वृत्ति बाहर से हट कर अधिकाधिक भीतर मे केन्द्रित हो, तब अन्तरात्मा की स्थिति पैदा होती है। आत्मा अपने आन्तरिक स्वरूप मे जब प्रवेश करती है तब उसकी सारी शक्तियाँ आत्म-स्वरूप एवं आत्म-हित से सम्बन्धित बनती हैं। इसके पहिले बहिरात्मा अपने स्वरूप को भूली हुई रहती है और इसी कारण वह अधम पाप रूप बतलाई गई है। पाप रूप आत्मा इस जीवन को कभी भी शान्ति देने वाली नही बनती है? क्या कोई अपने घर को जलाते रह कर सुख पा सकता है? दुनिया मे कई प्राणी इस अमूल्य मानव जीवन को लेकर आते हैं, किन्तु अपने स्वरूप से बाहर ही बाहर नाशवान पदार्थों मे रच-पच कर अपने इस अमूल्य जीवन को बरबाद कर देते हैं। उनके लिये चतुर्गति संसार मे परिभ्रमण करते रहने का मार्ग खुला ही रह जाता है। अन्य दृष्टि की दलदल मे ही वे फसे रहते हैं। अनन्य दृष्टि नहीं बनती है तो अन्तरात्मा मे प्रवेश करने की क्षमता का भी उसके जीवन में निर्माण नही हो पाता है।

मूर्छा और समता का प्रतीक :

एक व्यक्ति जब पर पदार्थों के प्रति अत्यधिक मूर्छावान बनता है; तब उसकी दृष्टि आत्मीय दृष्टि नही बन जाती है। उसकी दृष्टि भौतिकवादी हो जाती है। वह भौतिकवादी दृष्टि भी निरी भौतिकवादी होती है, वरना भौतिकवादी दृष्टि भी यदि सापेक्ष हो तथा आध्यात्मिक दृष्टि के साथ समन्वित हो तो वह भी आत्माभिमुखी बन सकती है। भौतिक दृष्टि भी जब आध्यात्मिक रूप लिये हुए होती है तो उस व्यक्ति के पास जो भी भौतिक सम्पदा उपलब्ध होती है, उसको वह सद्भावना, सहानुभूति एवं सहयोग की दृष्टि से जरूरतमन्द लोगो मे वितरित ही नहीं करता रहता है, बल्कि उसका परित्याग उन लोगों के लिये करने की भी उसकी तत्परता होती है। वह सम-वितरण की भावना रखता है। वह सोचता है कि जब मैं अपने शरीर को लेकर भी परलोक में नहीं जा सकूंगा तो यही छूट जाने वाली इस सम्पत्ति के प्रति क्यो अपना ममत्व रखूं? जितना सद्विनिमय हो सके और दूसरो के आर्त-रौद्र ध्यान को समाहित करने मे उनका उपयोग हो सके तो वह दुःखी जनो के दुःख निवारणार्थ अपनी सम्पत्ति का मोह-त्याग कर देता है। इस त्याग से उसके अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है।

बहिरात्मा बाहर के पदार्थों के प्रति अपार मूर्छा रखकर विषमता की

प्रतीक बन जाती है वहाँ सहज समानता की भावना आने से अन्तरात्मा समता की प्रतीक कहलाती है । यह बहिरात्मा अन्तरात्मा का स्वरूप धारण करे—ऐसा चिन्तन उन्हीं आत्माओं मे आता है जिनका दृष्टिकोण बाहरी पदार्थों से हटकर आध्यात्मिकता में प्रविष्ट हो जाता है । लेकिन जिनकी दृष्टि केवल चादी के टुकडों के पीछे ही लगी रहती है और जो बाहर के दृश्यों में ही आनन्द मनाना चाहते है, वे अन्ततोगत्वा कष्ट का ही अनुभव करते हैं । बहिरात्मा मूर्छा से ग्रस्त होती है तो प्रत्येक स्थान पर वह विषमता पैदा करती है और विषमताजन्य दु खों से पीडित भी बनती है ।

एक छोटा सा रूपक दे दूं जिससे अनन्य दृष्टि का विषय और अधिक स्पष्ट हो जायगा । यह रूपक बीसवीं सदी से पहले का है । उस समय भी व्यापारी व्यापार के प्रसग से विदेशो तक में जाते थे । उनकी एक–एक यात्रा वर्षों की होती थी जिसके दौरान वे अपने परिवार जनों को अपनी कुशलता के समाचार भी किन्हीं आने जाने वालो के साथ साल छ. माह में ही भेज सकते थे । एक व्यापारी के जब विदेश जाने का प्रसग आया तो उसने जाते समय अपनी सगर्भा पत्नी को कहा कि पीछे से वह आनन्दपूर्वक रहे तथा गर्भ से जो भी सन्तान बाहर आवे, उसका लालन–पालन वह पूरी सावधानी से करे । यह कहकर व्यापारी चला गया । यथासमय लडका हुआ और वह बारह वर्ष का भी हो गया । उसने अपनी मां से पूछा—पिताजी कब तक आवेंगे ? मा ने कहा—पहले मिले समाचार के अनुसार वे जल्दी ही आने वाले हैं । अभी मार्ग मे होने चाहिये—तुम सामने जाना चाहो तो जा सकते हो । लड़के ने पिता को पहिचानने की तकलीफ बताई तो मां ने एक चित्र पिता का तथा उसका भी एक चित्र उसके थैले में रख दिया । तब लड़का यात्रा पर रवाना हो गया ।

पहले अधिकतर कच्चे रास्तों से यात्राएं होती थीं । मार्ग में धर्मशालाओं में रात गुजारते थे । लडका शाम तक चलता–चलता एक धर्मशाला पर पहुचा तो वह रात्रि के लिये वहीं ठहर गया । दिन भर की थकान और ठडा खाना खाया था उसके पेट में बडी तेजी से शूल चलने लगा । धर्मशाला के व्यवस्थापक ने सहृदयता से इधर–उधर दवा की तलाश की, लेकिन दवा नहीं मिली । सयोगवश तभी धर्मशाला में एक बहुत बडा सेठ पहुचा—विदेश से आया था, उसने भोजन कर रखा था । व्यवस्थापक ने सेठ से शूल की किसी दवा की मांग की और बताया कि एक अबोध बालक दर्द से छटपटा रहा है ।

वह सेठ बहिरात्मा था, आत्मदर्शी नहीं था। दवा उसके पास थी, मगर मुफ्त देने से उसने इन्कार कर दिया। व्यवस्थापक ने काफी मिन्नत की, मगर सेठ का दिल नहीं पसीजा। दवा की एक पुडिया वह दे देता तो बच्चे की तड़पन मिट जाती—वह पक्का स्वार्थी था। व्यवस्थापक को उसने उल्टी डाट पिलाई कि वह थका हुआ है, उस बच्चे का शोर गुल बन्द करवादे वरना वह उसकी नौकरी खत्म करवा देगा। उसने बच्चे को सेठ के कमरे से दूर एक अलग कमरे में सुलवा दिया। सुबह उसने बच्चे को सम्हाला तो देखा कि उसके प्राण पंखेरू उड़ चुके हैं। उस घटना से सारी धर्मशाला मे हलचल सी मच गई, जिससे उस सेठ की नींद खुल गई। सेठ भी भीड़ के पास पहुचा तो लोग उस लडके के थैले से निकले दोनो फोटुओं को देख रहे थे कि वह अमुक अमुक सेठ का लड़का है। सेठ ने फोटो देखे तो माथे पर हाथ रख दिया कि यह तो उसी का इकलौता लडका है जिसको देखने के लिये वह तडप रहा था। वह रोया, चिल्लाया और मूर्छित होकर गिर पडा। मगर अब क्या होने वाला था?

देखा आपने कि बहिरात्मा की कैसी दशा होती है? अपना फर्ज समझ कर ही सेठ अगर दवा की पुडिया दे देता तो उसके पुत्र की रक्षा हो जाती, लेकिन छोटा सा फर्ज भी वह आत्मा निभाती है, जिसके मन में सम-भाव, समदृष्टि एव समतामय व्यवहार की आकाक्षा होती है। ऐसी विषमता को त्याग कर समता को अपनावें—तभी अन्तरात्मा का रूपक बन सकता है।

अंतरात्मा की व्यापकता :

यह घटना किसी भी तरह घटित हुई होगी लेकिन ऐसी घटनाएं आज भी कितनी हो रही हैं—क्या इसका भी कोई अनुमान आप लोगों ने लगाया है? इस विषय पर चिन्तन करके ऐसी कोशिश करनी चाहिये कि सम्पत्ति का सद्-विनिमय हो सके। सम्पत्ति (भौतिक) मे बाहरी पदार्थ शामिल होते हैं। इस भौतिक सम्पत्ति के सिवाय मनुष्य के पास शारीरिक सम्पत्ति और बौद्धिक सम्पत्ति भी होती है। आधुनिक युग में तो और भी कई प्रकार की सम्पत्तियां मनुष्य को प्राप्त हो गई हैं। जिनको इस प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त हैं और वे यदि बहिरात्मा स्वरूपी हैं तो उस सेठ की तरह किसी को भी सहयोग देकर साता नहीं पहुचा सकते हैं, लेकिन जो अन्तरात्मा स्वरूपी होते हैं, वे अपनी सम्पत्तियों का सद्-विनिमय करते हैं तथा अन्तर्दृष्टि को जागृत रखकर आत्मीय भावना से अनुप्रेरित होते हैं—दूसरों की आत्मा को

अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर उनका आर्त-रौद्र ध्यान मिटाने व दुःख दूर करने के निमित्त से हार्दिक योगदान देते हैं। वे अपनी आन्तरिक शक्तियों को पहिचान लेते हैं।

वस्तुत आत्मीय भावना की प्रेरणा अन्तरात्मा को ही होती है। आत्मा की आन्तरिकता में प्रवेश करके जब मनुष्य अपने निज स्वरूप को तथा अपनी आत्मिक शक्तियों को पहिचानता है तो वह अन्य प्राणियों के आत्म-स्वरूप को भी देखता है तथा उसे अपने समकक्ष मानता है। उसकी आत्मीय भावना तब इतनी व्यापक और विस्तृत हो जाती है कि उसको ससार की सारी आत्माएं आत्मवत् प्रतीत होती हैं। फिर उसको जो भी सम्पत्तिया प्राप्त होती हैं, उनका सदुपयोग वह दूसरे प्राणियो के दु.खों को दूर करने के हेतु करता है। दु खी प्राणियों की आत्माओं को शान्ति मिलती है तो वह समझता है कि उसकी अपनी आत्मा को शान्ति मिल रही है। अन्तरात्मा की ऐसी मनोदशा होती है।

लेकिन बाहर की सम्पत्तियों तथा शक्तियों को प्राप्त करके जो बहिरात्मा होते हैं, वे दु खियों और अशक्तों का मखौल उडाते हैं, दूसरों पर वचनों के तीर चलाते हैं तथा आत्मीय भावना से दूर-स्वार्थ वृत्ति से ग्रस्त बने रहते हैं। वे इस रूप में अपने अमूल्य मानव जीवन को तथा आध्यात्मिक शक्तियों को बरबाद करते रहते हैं। कालेज में डिग्रियां प्राप्त कर लेना और बात है, लेकिन आध्यात्मिक और बौद्धिक शक्तियां पाकर मानव-मानव के साथ सद्व्यवहार करना दूसरी ही बात होती है। जिसकी अनन्य दृष्टि बन जाती है, वही अन्य आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझता है, उनको जरा भी ठेस नहीं पहुंचाता है तथा उनके प्रति हमदर्दी दिखाता है। इस अनन्य दृष्टि को धारक अन्तरात्मा होती है और इसी कारण अन्तरात्मा अपने जीवन में आत्मीय भावना के साथ उसी भावना के अनुरूप वचन का उच्चार करती है एवं मधुर व्यवहार दिखाती है। यह अन्तरात्मा का लक्षण होता है।

बहिरात्मा के अहं का परिणाम :

ध्यान रखिये कि दृष्टि नहीं बदली तो इस बहिरात्मा का रूप भी नहीं बदल सकेगा। चाहे जितनी शिक्षा की डिग्रियां इकट्ठी करलें किन्तु सच्ची शिक्षा वही कहलाती है जो दृष्टि को बदल देती है—उस दृष्टि को बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाती है। दृष्टि अन्तर्मुखी बनती है, तभी अन्तरात्मा की अवस्था अभिव्यक्त होती है।

इतना छोटा सा उदाहरण रखूं कि काशी विश्वविद्यालय के छात्र व

पवित्र वातावरण में जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की लेकिन जिनको अन्तरात्मा का जरा भी खयाल पैदा नही हुआ, वे विद्यार्थी दृष्टि नही बदलने के कारण बहिरात्मा बने। विश्वविद्यालय मे अपना अध्ययन करके चार विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर निकले। एक ज्योतिष विद्या मे, दूसरा गणित मे, तीसरा चिकित्सा विज्ञान मे तो चौथा वनस्पति शास्त्र मे उत्तीर्ण हुआ था, किन्तु सभी अपने को इतना पारगत समझते थे कि जैसे उनके मुकाबले का दुनिया मे कोई दूसरा है ही नहीं। इस अह भावना के साथ चारो विद्यार्थी अपने स्थान की ओर जा रहे थे।

रास्ते मे एक बहुत बडी नदी पडी। उस नदी मे गहरा पानी था। उसे पार करने का उनके पास कोई चारा नहीं था। तभी नाव लेकर एक नाविक दिखाई दिया। वह गरीब था और ये चारो अह-भावी थे। उन चारो ने उसका खूब मखौल उडाया। एक विद्यार्थी ने उससे पूछा-तू बैठा-बैठा क्या करता है? क्या तुझे नक्षत्रो का ज्ञान है? उसने कहा-मैं तो नक्षत्र ही नही समझता। तब विद्यार्थी बोला-तेरी पाव जिन्दगी व्यर्थ गई। बाद मे दूसरे, तीसरे और चौथे विद्यार्थी ने भी अपने-अपने विषय के सम्बन्ध मे नाविक से प्रश्न करके यही कहा कि प्रत्येक विषय के न जानने से उसकी पाव-पाव जिन्दगी और यो करके पूरी जिन्दगी बेकार गई है। फिर पूछा-यहाँ पर तू क्या करता है? उसने कहा-यात्रियो को अपनी नाव मे इस पार से उस पार ले जाता हू। तब तो चारो बोले-हमको भी उस पार ले जाओ। नाविक ने चारों को नाव मे बैठा लिया और नाव को खेने लगा।

जैसे ही नाव नदी के बीचो-बीच पहुची कि जोर से आधी-तूफान आ गया। नाव डगमगाने लगी। तब नाविक ने उनसे पूछा-आप लोग तैरना जानते हैं या नही? चारो बोले-तैरना तो हम नही जानते। नाविक ने कहा-अब मेरे हाथ की बात नही है—नाव डूबने वाली है। मैं तो तैरना जानता हू आप के लिये मुझे बडा दु ख है कि आपकी जिन्दगी व्यर्थ ही नही नष्ट होने वाली है मेरी बेकार जिन्दगी तो मेरे पास ही रहेगी। यह कहकर नाविक नाव से पानी मे कूदने लगा तो चारो गिडगिडाये—हमे माफ करदो, किसी तरह हमारा जीवन बचालो।

वह नाविक पढा लिखा नही था, धनवान भी नही था और आध्यात्मिक ज्ञानी भी नहीं था। लेकिन उसकी दृष्टि आध्यात्मिक थी। उसने उन चारों के मखौल की बात नही सोची और रस्से बाध कर उनको नदी के पार लगा दिया। दुनिया भर की विद्याए आप जानते हो परन्तु समुद्र मे चलते हुए अगर तैरने की कला नही जानते तो क्या अपने जीवन को बचा सकते हैं?

इस संसार समुद्र में भी तैरने की कला आनी चाहिए और उसके लिये दृष्टि बदल कर बहिरात्मा के रूप को बदलना होगा।

जिन खोजा, तिन पाइया गहरे पानी पैठ :

आत्मा की आन्तरिकता मे अन्तर्मुखी दृष्टि से जो प्रवेश करता है तथा उस की गहराई मे गहरे से गहरे तक जाता है, वही आत्म-स्वरूप की सफल शोध कर सकता है। तैरना नहीं जानने वाले उन चारों को तो उस गरीब नाविक ने उबार दिया, लेकिन आज बीसवीं सदी में चलने वाले कई भाई आध्यात्मिक जीवन की मखौल उड़ाते हैं और बेपरवाही से कहते हैं कि यह धर्म और ईश्वर क्या है तथा आध्यात्मिकता कैसे चल सकती है—ऐसे भाइयो का इस संसार-समुद्र में क्या हाल होगा ?

आप सोचें कि आप ऐसे भाइयों की श्रेणी मे तो नहीं आते हैं ? आपको भी पर पदार्थों में रमण करने की कला ही याद है अथवा आपने संसार समुद्र में तैरने की भी कुछ कला सीखी है ? यदि तैरने की कला आती होगी तभी आत्म-स्वरूप की गहराई में भीतर पैठने का अभ्यास बन सकेगा। इस लिये बहिरात्मा को छोड कर भीतर घुसने और भीतर चलने की कोशिश कीजिये। आज की दुनिया बाहर ही बाहर भूल रही है—आप इस भूल-भुलैया मे मत फसिये। इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा—हे भव्यों, सोच समझ कर कार्य करो, तभी अनन्य आराम मिलेगा। और अनन्य आराम मिलेगा अपनी दृष्टि को अनन्य बना लेने से। यह अनन्यता प्राप्त होगी अन्य से छुटकारा पा जाने के बाद। अन्य से छुटकारा पा लेंगे तो बाहर से आपकी आत्मिक शक्तियां सिमट कर आत्मा की आन्तरिकता मे प्रवेश करेंगी और तभी बहिरात्मा का रूप धवल-उज्ज्वल होकर अन्तरात्मा में परिवर्तित होगा।

आध्यात्मिक सम्पत्ति..........?

सुमति चरण रज, आतम अर्पण, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी ।।

इस विचित्र संसार के बीच में कई विचित्र दृश्य देखने को मिलते हैं। इन बाह्य पदार्थों को—दृष्टि में आनेवाले तत्वो को समझने की आवश्यकता है कि उनमें से कौनसा तत्व बहु मूल्य है तथा कौनसा तत्व अपमूल्य है ? किस तत्व मे कौनसा विशेष महत्व रहा हुआ है ? इस विषय का विज्ञान जब आत्मा कर लेती है—जब उसमें इस तरह की परीक्षा बुद्धि का विकास हो जाता है तो उसके सामने अपने हित अथवा अहित का प्रसग उपस्थित होता है ।

तब आत्मा को अपने हिताहित का निर्णय करना होता है कि किन पदार्थों के ग्रहण करने में उसका हित रहा हुआ है तथा आत्महित की दृष्टि से ही वह किन पदार्थों का परित्याग करे ? किन पदार्थों के ग्रहण करने से अथवा नहीं ग्रहण करने से उसका अहित होगा—यह भी उस को समझना चाहिये । उसको यह भी जानना चाहिये कि किस पदार्थ को ग्रहण करने मे किस का कितना मूल्य चुकाना पडता है एवं कौनसी शक्ति लगानी पडती है ? इस तुलनात्मक दृष्टि से जीवन के सारे वृत्तान्त देखे जायें, आत्महित को पहिचानें तथा निष्कर्ष रूप में सार सत्वो को ग्रहण करते हुए चलें तो बाहर की सम्पत्ति की क्या बात है, भीतरी अखूट सम्पत्ति भी प्राप्त कर सकते हैं।

विद्युत् प्रवाह और आत्मा

महावीर प्रभु ने जो कुछ भी उपदेश अपनी अमोघ धारा से संसार के कल्याण हेतु दिये, उनमें उन्होंने अर्थ रूप से तत्वों का विश्लेषण किया ।

यह विश्लेषण इतना सारपूर्ण है कि विकासशील आत्मा स्व-शक्ति अनुसार उस सार को अपना सकती है तथा अपना परम उद्धार कर सकती है। वह अपने अन्तिम गतव्य स्थान—मोक्ष तक भी पहुच सकती है। प्रभु ने आत्मा का बाह्य स्वरूप भी बताया है तथा भीतरी स्वरूप का गभीर विवेचन भी किया है जिसे कवि ने इस प्रार्थना मे बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा का नाम दिया है। बाहर की सम्पत्ति तथा भीतर की सम्पत्ति की प्रतीक ये दोनो प्रकार की आत्माए ही होती हैं। बहिरात्मा बाहर की सम्पत्ति की लालसा में बुरी तरह भटकती है फिर भी उसको वह सम्पत्ति मिलती है या नहीं मिलती है यह शकास्पद है लेकिन अन्तरात्मा जब प्रगति करती है तो भीतर की सम्पत्ति को अवश्य प्राप्त करती है। भीतर की सम्पत्ति का भडार अनुपम होता है।

बहिरात्मा दिखाई देने वाले रूपी शरीर से सम्बन्धित होती है। आठ कर्मों से युक्त जो आत्मा है, उस आत्मा को शास्त्रकारों ने रूपी आत्मा कहा है, क्योंकि उसका रूप दिखाई देता है। जैसे विद्युत् का प्रवाह जब तार के बीच मे होकर बहता है तो वह मनुष्य की दृष्टि में नही आता है, लेकिन बिजली का यही प्रवाह एक हीटर में समाविष्ट हो जाता है तो दिखाई देता है कि उस प्रवाह के प्रभाव से वह हीटर एक लाल सुर्ख आग के गोले के रूप में जल रहा है। विद्युत् का वह भीतरी तत्व यदि प्रवाह में परिणित नहीं होता तो मनुष्य की आंखों के सामने नही आता। कांच का बल्ब खाली पडा हुआ होता है लेकिन जैसे ही बटन दबाया कि उससे बिजली का प्रवाह बल्ब मे पहुचता है और वह बल्ब प्रकाश से जगमगा उठता है। वह बिजली पहले इन आंखों से नही दिखाई दे रही थी लेकिन बल्ब में पहुचते ही प्रकाश के रूप मे वह दृष्टिगत होने लगी।

है, लेकिन आत्मा के स्वरूप को किसी सूक्ष्म दर्शी यंत्र से भी देखने का अवसर नही है। चाहे कितने ही सूक्ष्म दर्शी यंत्र से देखने का यत्न करें, उनकी सहायता से भी आत्मा के मूल स्वरूप को नही देख सकते हैं, जो स्वरूप असल मे अरूपी होता है। सिद्ध भगवान् की आत्मा का जो स्वरूप है, वह मूल रूप मे होने से देखा नही जा सकता है। यह आत्मा मूल रूप मे अपनी योग्यता सिद्ध भगवान् की आत्मा के समान रखती है, लेकिन चूंकि कर्मों के साथ लिप्त हो रही है और आठ कर्मों को ग्रहण करते हुए रूपी स्वरूप की बनी हुई है। इसी दृष्टि से उस शरीरस्थ आत्मा को रूपी कहा जा रहा है।

रूपी आत्मा :

इस शरीर के प्रत्येक अवयव मे—इसके अणु-अणु में आत्म—प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं, जैसे हीटर के प्रत्येक स्थान पर विद्युत् व्याप्त बनी हुई दिखाई देती है। शरीर के किसी भी हिस्से मे जरा सी सुई भी जब चुभोई जाती है तो वह उस को अनुभव करता है, उसका यही कारण है कि उस शरीर मे सर्वत्र आत्म प्रदेशो का विस्तार होता है। यदि आत्म प्रदेशो का प्रवाह सारे शरीर में समान रूप से नही बहता हो तो एक स्थान पर सुई को चुभाने से सारे शरीर को उसका अनुभव कैसे हो सकता है? इससे यह स्पष्ट है कि शरीर के प्रत्येक अवयव मे आत्म प्रदेश व्याप्त हैं, इसलिये उस शरीर को सजीव कहा जाता है क्योकि वे ही आत्म प्रदेश जब उस शरीर मे से निकल जाते हैं तो शरीर के रह जाने पर भी वह सजीव नहीं रहता। उस मृत शरीर को निर्जीव कहते है। इस दृष्टि से सजीव शरीर आत्मा का ही प्रमाण रूप होता है और उस शरीरस्थ आत्मा को उस रूप की दृष्टि से रूपी कहते हैं। यह शरीर और शरीर द्वारा प्राप्त की जाने वाली बाहरी तत्वो की ऋद्धि को इसी दृष्टि से बाहर की सम्पत्ति का नाम दिया गया है। बाहर की सम्पत्ति भी पौद्गलिक होने से रूपी होती है, दृश्य होती है।

आत्मा और शरीर के सयोग मे ही बाहर की सम्पत्ति तथा भीतर की सम्पत्ति का प्रसग आता है। शरीर की प्रवृत्तियो के साथ जब आत्मा वह जाती है तो वह बाहर के पदार्थों मे सुख मानने लग जाती है और बाहर की सम्पत्ति एकत्रित करने मे ही अपनी शक्ति लगा देती है। इस रूप में आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर बाह्य वातावरण मे रमण करने लग जाती है। किन्तु वही आत्मा जब निज स्वरूप को पहिचान जाती है तथा निज स्वरूप की शुद्धि का संकल्प कर लेती है तो वह शरीर को अपने नियत्रण में ले लेती है—शरीर

को धर्म का साधन बना लेती है। उस धर्म साधना से वह आत्मा जिस रूप में अपनी आन्तरिक शक्तियों का विकास साधती है, उससे उसको भीतर की सम्पत्ति की उपलब्धि होती है। यह भीतरी सम्पत्ति आत्म सम्पत्ति कहलाती है।

रूपी आत्मा के प्रसग से ही बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा का स्वरूप समझा जा सकता है। इस शरीर में रहती हुई आत्मा बहिरात्मा भी बन सकती है और अन्तरात्मा भी बन सकती है। बाहर की सम्पत्ति के पीछे दीवानी है वह बहिरात्मा और जो भीतर की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये साधना करती है, वह अन्तरात्मा होती है। जब इस आत्मा की दृष्टि, इसका उपयोग और इसकी धारणा बाहर की सम्पत्ति से गुथी हुई रहती है तो इसी आत्मा का रूप बहिरात्मा का रूप होता है किन्तु जब इसी आत्मा की शक्तिया तथा इसकी श्रद्धा आत्मा के सत्, चित् एव आनन्द स्वरूप से जुड जाती हैं तो वही आत्मा अन्तरात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है तथा आत्म सम्पत्ति की स्वामिनी बन जाती है।

आत्म जागृति का मापदड :

है। यह आत्मा बाहर देखती हुई भी भीतर की आंखों से अंधी होती है, अनुभव करते हुए भी भूलती है, तथा शुभ कार्यों की ओर प्रवृत्ति नहीं करती है।

आत्म जागृति के मापदड पर जो आत्मा खरी नही उतरती है, वह भीतर की सम्पत्ति से विहीन होती है। किसी पुण्योदय से बाहर की सम्पत्ति मिल भी जाती है तो वह उसका सदुपयोग नहीं कर पाती है तथा अपने जीवन को निरर्थक बना देती है। जो आत्मा जागृत नही होती है, वह एक प्रकार से जड़ तत्वो मे ही रमण करती हुई जडवत् बन जाती है। अपनी स्वरूप सज्ञा को वह भुला देती है तो वह सम्पत्तिहीन भी बनी रहती है। भीतर की सम्पत्ति की विद्यमानता से ही किसी भी आत्मा को जागृति का परिचय मिलता है।

तृष्णा का ताण्डव :

एक बार घनघोर वर्षा हो रही थी नदी नाले पूर आ रही थी उस समय मे भी एक व्यक्ति लगोटी लगा कर नदी नालो से लकड़ियां निकालने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसे रात्री कि भयानक तूफान मे अपने जीवन को खतरे में डाल रखा है। कुछ लकडिया निकाल उसे सिर पर रख कर पुनः घर की ओर त्वरित गति से चल रहा है। इधर मगध सम्राट श्रेणिक अपनी महारानी चेलना के साथ झरोखे में बैठे वर्षा का आनन्द ले रहे थे। बिजली की चमक मे महारानी चेलना ने उस व्यक्ति को देखा और विचार निमग्न हो गयी। सोचने लगी क्या पति देव के राज्य मे ऐसी गरीबी है, जो ऐसी घनघोर वर्षा में भी यह नगरवासी लकडियां इकट्ठी कर लाने को मजबूर हुआ है? अकस्मात् महारानी को विचार निमग्न देख सम्राट श्रेणिक भी विचार मे पड़ गया और उसने महारानी से इसका कारण पूछा।

महारानी ने कहा—स्वामी आप सम्राट कहलाते हैं। और आपकी प्रजा की ऐसी दुदशा है! श्रेणिक स्पष्ट रूप से समझ नही पाया इतने मे पुन. बिजली चमकी और महारानी ने लकडियो का गठ्ठर उठाये आते हुए उस लगोटी धारी, व्यक्ति को दिखा दिया। उस व्यक्ति की दशा से सम्राट स्वय व्यथित हुए तथा महारानी को भी प्रजा का इतना ध्यान है इससे आनन्दित भी हुए। उन्होने अपने अनुचर को भेजा कि वह उस व्यक्ति के पीछे-पीछे जाकर उसके मकान का नम्बर ध्यान में ले ले। अनुचर उस व्यक्ति के पीछे-पीछे उसके मकान तक पहुचा और मकान नम्बर ध्यान मे लेकर सम्राट को निवेदन कर दिया। सम्राट रात्रि भर आराम से शयन नहीं कर पाये उस व्यक्ति की दशा

उन्हें बार-बार उद्वेलित कर रही थी। उसने उठकर शीघ्रता से अनुचर को बुलाया और कहा उस रात वाले व्यक्ति को शीघ्र दरबार में उपस्थित करो। अनुचर उस व्यक्ति के घर पहुंचा और उसे सम्राट का आदेश सुनाया। वह व्यक्ति पहले तो कुछ विचार में पड़ा फिर सम्राट की प्रजापालक एव न्याय वृत्ति का ध्यान आने से कुछ आश्वस्त हुआ और अमूल्य वस्त्रों एव आभूषणो से अपने को सुसज्जित कर उस राज पुरुष के साथ दरबार में उपस्थित हुआ। अनुचर के साथ अपने नगर के जाने माने सेठ मम्मण को देख सम्राट ने अनुचर से कहा इन्हें यहां क्यों लाया मैंने तो उस रात वाले व्यक्ति को लाने को कहा था अनुचर ने कहा—हुजूर ये ही वह रात वाला व्यक्ति है। सम्राट विचार में पड गया कि क्या यह सत्य है?

सेठ से पूछने पर सेठ ने कहा हुजुर मैं ही रात्रि को घनघोर वर्षा मे नदी के पुर से लकडियां निकाल कर घर ला रहा था। राजा ने पूछा आपको ऐसा क्या दुःख है जो ऐसे सकट काल में भी आप जो जान की बाजी लगाकर लकडियां घर ले जा रहे थे। सेठ ने कहा—राजन् मेरे पास बैलो की अधूरी जोडी है उसे मैं पूर्ण करना चाहता हू। राजा ने सोचा वनिया है पोते की रकम को खर्च किये विना ऊपरी आमदनी से बैल की जोडी पूर्ण करना चाहता है। उन्होंने ने सेठ से कहा—आप सरकारी बैल शाला से मन पसन्द बैल ले जाकर अपने बैल की जोडी पूरी करलें। सेठ ने कहा—राजन् मेरे पास बैलो की जैसी अधूरी जोडी है, वैसा आपकी बैलशाला मे एक भी नहीं है। राजा ने कहा—जहां मिलता हो खरीद लो पैसे राजकोष से ग्रहण करलो।

सेठ ने कहा राजन् यही मंजिल पा है। राजा ने समझाया-अरे भले आदमी इस तरह संपत्ति का सग्रह करने के लिए तुम अपने जीवन को क्यो खतरे मे डाल रहे हो। तुम्हारे जोवन का मूल्य अधिक है या बैल का ? सेठ ने कहा - राजन् क्या करु मन नहीं मानता जब तक यह जोड़ी पूरी नहीं हो जाती तब तक मुझे शांति नहीं मिल पा रही है इसके लिए मैं भूख प्यास आदि सभी कष्ट सहने को तैयार हूं।

ध्यान लगाइये कि कैसी थी मम्मण सेठ की आत्मा ? वह कितना सम्पत्तिशाली था, लेकिन भीतर की सम्पत्ति की दृष्टि से कितना सम्पत्तिहीन था? सारी दुनिया उसको मम्मण सेठ कहती थी, लेकिन ज्ञानी जन क्या कहते हैं ? ज्ञानी जन उसे बहिरात्मा कहते हैं जिसके पास आत्मिक सम्पत्ति का अभाव था। उसने पर-पदार्थों के महत्त्व का तो मूल्यांकन किया था लेकिन अपने अमूल्य जीवन का मोल वह समझ ही नहीं सका। यह आत्म-दारिद्रय का रूपक है।

अनन्तसुखनाशक : तृष्णा

मम्मण सेठ के रूपक से बहिरात्मा के स्वरूप का भान होता है। वह अल्प सुख की तृष्णा मे अपने जीवन को भी खतरे मे डाल कर मारा-मारा फिर रहा था। बाहर की सम्पत्ति का अल्प सुख भी सबको प्राप्त कहां होता है ? जैसे रेगिस्तान को पानी समझ कर प्यासा मृग गर्मी में भागता रहता है और उसे पानी नही मिलता, वैसी ही दशा बहिरात्मा की होती है जो अल्प सुख की मृग तृष्णा मे भागती रहती और उसके पीछे आत्मा के अनन्त सुख का विनाश कर देती है।

भगवान् महावीर ने ऐसे आत्मा धारियो को उपदेश दिया है—

"मा एयं अवमन्नता अप्पेण लुंपहा बहु।" अर्थात् सन्मार्ग का तिरस्कार करके अल्प सुख (विषय सुख) के लिये अनन्त सुख (मोक्ष सुख) का विनाश मत करो। यह सूत्र कृताग की गाथा है। यहा बहिरात्मा को उद्बोधना के लिये कहा गया है कि इस अन्तरात्मा बनने के मार्ग मे तुम बेपरवाही मत करो—उस मार्ग की अवहेलना मत करो। अल्प प्राप्ति के लिये तुम महाविनाश करने को तयार हो रहे हो,—जैसे कि बैल के सींग के लिये मम्मण सेठ अपने मानव जीवन को नष्ट कर रहा था।

मम्मण सेठ की तृष्णा वृत्ति के कारण राजा श्रेणिक और उसमे भी

चौधि चेलना रानी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । वे प्रभु महावीर की 'इच्छाहु दाम तथा पणतिया उद्घोषणा को सन्मुख विचार करने लगे कि वास्तव में यह सेठ अपनी वितृष्णा वृत्ति के कारण दुखी है । से महारानी से कहने लगे रानी ! अब तुम्ही बताओ मैं इसको कैसे सुखी बना सकता हू । महारानी भी निरुत्तर हो गयी । पर कुछ समय बाद जब संयोग से उस नगर मे एक अति-शय ज्ञानी महात्मा पधारे तब श्रेणिक ने उनसे प्रश्न किया-महात्मन् बहुत दिनों से मेरे मन मे एक शका चल रही है कृपा करके उसका समाधान कीजिये । जिस व्यक्ति के पास अरबो खरबों की सम्पत्ति है, वह उस सम्पत्ति को न तो खाने पीने में खर्च करता है और न दान पुण्य मे तथा उसकी रक्षा करने के लिये अपने अमूल्य जीवन को नष्ट कर रहा है तो ऐसे व्यक्ति को इतनी सारी सम्पत्ति मिली कैसे ?

महात्मा अतिशय ज्ञानी थे । वे समझ गये कि यह व्यक्ति मम्मण सेठ ही है । उन्होंने उत्तर दिया—जिस व्यक्ति के विषय मे यह प्रश्न है, वह अपने पूर्व जन्म में व्यवसायी था । साधारण सी स्थिति थी । तब एक महात्मा शहर मे आये । महाफल की कामना लेकर वह भी उन महात्मा के व्याख्यान में पहुचा । सयोग से उस दिन व्याख्यान के बाद किसी ने एक–एक लड्डू की प्रभावना बांटी । उसको भी एक लड्डू मिला । वह जब घर पहुचा तो एक साधु भिक्षा के लिये आये । उसके हृदय मे तीव्र भावना बनी तथा शुभ भावना से उस ने वह लड्डू महाराज को बेहरा दिया । साधु जी भिक्षा लेकर आगे बढ़ गये ।

कहा–लाई हुई भिक्षा को वापिस देने का हमारा कल्प नहीं है। उस ने तो उनकी झोली पकड ली। उसने लेने की कोशिस की तो साधु जी लड्डू को चूर करके परठने लगे। कुछ उन्होने परठा और कुछ छीन कर वह ले भागा। वह घर पर पहुंचा और लड्डू का आस्वादन लेने लगा। यह घटना उसके जीवन मे घटी।

इस घटना से निष्कर्ष यह निकला कि प्रारभ में महात्मा के समीप पहुचना, व्याख्यान श्रवण करना, प्रभावना लाना और महात्मा को भिक्षार्थ आये देखकर तीव्र भावना भाना व लड्डू वेहरा देना–ये जो सब कार्य हुए उससे उसके पुण्य कर्म का बंध हुआ–अन्तराय कर्म का क्षयोपशम हुआ। उससे इस व्यक्ति को इस जीवन मे भारी सम्पत्ति मिलने का प्रसग आया। लेकिन लड्डू वेहराने के बाद जो छीना झपटी कर लड्डू को वह महात्मा जी से वापिस ले आया जिससे अन्तराय कर्म ऐसा बंधा कि वह उस प्राप्त सम्पत्ति का उपभोग नही कर पा रहा है। अल्प सुख की मृग तृष्णा मे वह अनन्त सुख का अपने ही हाथों विनाश कर रहा है।

भौतिक संपत्ति की तीन अवस्थाए :

बाहर की सम्पत्ति असल में तो नाशवान ही होती है और उसका अन्त नाश रूप ही होता है। यह है कि जागृत व्यक्ति उस प्राप्त सम्पत्ति का यदि सदुपयोग करना चाहता है तो वह दान के रूप में उस सम्पत्ति का सदुपयोग कर लेता है। ऐसा सदुपयोग अन्तरात्मा का लक्षण होता है। बहिरात्मा उसका उपयोग अपने भोग मे करती है, लेकिन मम्मण सेठ जैसी आत्मा तो उस सम्पत्ति का अपने भोग में भी उपयोग नहीं कर सकी। जो सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करता तथा उपयोग भी नहीं कर पाता है, उसकी सम्पत्ति का नाश होता है। क्योकि बाहर की सम्पत्ति के व्यय के तीन रास्ते हैं—दान, भोग अथवा नाश।

जो विवेकशील व्यक्ति होता है, वह अपने हाथ को खोल करके जरूरत मन्दो को सहायता देता है तथा अपनी सम्पत्ति का सद्विनिमय करता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह जो आसक्त होकर अपनी सम्पत्ति का भोग मे ही करता है ऐसे व्यक्तियो की सपत्ति भोग मे ही विनष्ट हो जाती है। एवं जो न तो दान देता है और न स्वय के लिये खर्च करता है जब उसका शरीर कृश हो जाता है और वैद्य कहते हैं कि कुछ खाया करो–तब भी वह न स्वयं खाना पसन्द करता है और न बाल बच्चों को ठीक से खाने देता है। ऐसे व्यक्तियों का धन फिर तीसरे रास्ते से जात है जो नाश का रास्ता है। ऐसे

व्यक्ति चोरी हो जाने पर हाय–हाय करते हैं अथवा सरकार का छापा पड़ जाता है तथा धन चला जाता है तो उसका हाय विलाप बढ जाता है।

ऐसे व्यक्तियो के प्रति ही महावीर के वाक्य हैं कि अपनी आत्मा की आन्तरिकता में ले जाने वाले सन्मार्ग को उपेक्षा की दृष्टि से मत देखो–थोडी सी वस्तु के लिये बहुत सारी वस्तु को नष्ट मत करो। इस प्रकार इस वाक्य का अनुसरण करने की भावना जिस आत्मा मे जग जाती है, वह अपने मानव जीवन का सही मूल्यांकन भी कर लेती है। वह अपनी आन्तरिक शक्तियो को जगा लेती है और समझ जाती है कि स्वल्प के लिये अमूल्य को नष्ट नहीं करना चाहिये। इस तरह की वृत्ति प्रवृत्ति को जो व्यक्ति अपने जीवन में अपना लेता है वह भीतर की सम्पत्ति का भारी लाभ कमाता है। आत्मिक सम्पत्ति का जो स्वामी बनता है, वही वास्तव मे सम्पत्तिशाली कहलाता है।

आत्मिक सम्पत्ति को प्राप्त करने वाला बाहर की सम्पत्ति को धूल के समान मानता है, इसलिये वह ममता और मूर्छा से भी दूर हो जाता है। वह तब प्राप्त बाहर की सम्पत्ति का भी पूर्ण रूप से सदुपयोग ही करता है।

तप से भी आत्मिक सम्पत्ति का अर्जन :

ले की जाती है तो वैसी आत्मा अन्तरात्मा का रूप तो धारण कर ही लेती है, लेकिन अपने आत्मिक गुणो की प्रचुरता से महान् ऋद्धिशाली और शील-सम्पन्न भी बन जाती है।

अपार सम्पत्ति के स्वामी बनें, लेकिन सम्पत्ति कैसी हो ?

सम्पत्ति का स्वामी बनना कौन नहीं चाहता ? आप भी तो चाहते होगे ? लेकिन अभी तक आप की चाह यही होगी कि हजारो की सम्पत्ति है, वह लाखो की बन जाय, एक की जगह दो हवेलियां हो जाय और सुख साधन बढ जाय। यह ओछी ममता मात्र है क्योंकि बाहर की सपत्ति जीवन को अन्तर्मुखी नही बनने देती है। इसलिये समझिये कि आपकी सपत्तिशाली बनने की कामना आत्म-सपत्ति के संदर्भ मे होनी चाहिये। जो अपार आत्म-संपत्ति का स्वामी बनता है, वह अनन्त सुख का धनी भी होता है।



सच्चा आनन्द कहां ?

सुमति चरण रज, आतम अर्पणा, दर्पण जिम अविकार, सुज्ञानी।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी।।

यह सारा संसार मुख्य तौर पर दो हिस्सों में रहा हुआ है। प्रत्येक वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। एक बाहर की अवस्था तथा दूसरी भीतर की अवस्था। इन दोनों अवस्थाओं के बिना कोई भी वस्तु अपने वस्तु स्वरूप में नहीं रहती। प्रत्येक पदार्थ की खोज की जाय, उसका अन्वेषण किया जाय तो यह तथ्य उभर कर मिलेगा कि उसके इस रूप में दो स्वरूप हैं।

इसकी सुइस्याएं भी दी है। बाहर आप देख रहे है कि दो काटे है—एक बड़ा और दूसरा छोटा। दोनों काटे घडी की गोलाई मे बराबर चक्कर काटते रहते हैं और अक समय बताते हैं। ये दोनों काटे और घडो की गोलाई आपको दिखाई दे रही है। लेकिन आप घड़ी के भीतरी कल पुर्जों को नही देख पा रहे हैं।

जो पुरुष घडी की बाह्य एव आंतरिक स्थिति को देख लेता है, और जान लेता है, तो घड़ी के खराब होने पर वह समझ जाता है कि बाहर का काटा भीतर के किस पुर्जे की खराबी के कारण रुक गया है ? वह यह भी समझता है कि किस पुर्जे मे नुक्स आ जाने से घडी के चलने मे कहां क्या दोप पैदा हो जाता है। इस प्रकार घडी के समग्र रूप को जानने वाला व्यक्ति घडी के बाहरी रूप को ज्यादा नही टटोलेगा, बल्कि घडी के भीतरी कल पुर्जों का अनुमान लगा लेगा तथा उसी भीतरी कल पुर्जे को सुधारने मे लग जायगा जिसके कारण घडी चलनी बन्द हो गई है। भीतर की अवस्था को सम्हाल करके वह बाहर के कांटों को घुमाकर घडी को ठीक समय पर चला देता है। घडी को सम्हालने और चलाने के लिये घडी की बाहरी और भीतरी दोनों अवस्थाओ का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिये।

समझें कि यही घडी किसी आदिवासी के समक्ष है जिसने अपने जीवन मे कभी घडी देखी ही नही है और पहली ही बार उसने दीवाल घडी देखी है। वह इस घडी के टकोरे सुन कर सोचेगा और आश्चर्य से उसको देखेगा कि इसमे कोई आदमी कहां बैठ कर ये टकोरे बजा रहा है। यह भी सोच सकता है कि यह बाहर—बाहर जो दिखाई दे रही है, वही घडी है। इसका भीतरी स्वरूप कुछ नहीं है क्योंकि जिसको घडी का ज्ञान ही पहली बार हुआ है, वह घडी के उस भीतरी स्वरूप की कल्पना ही कैसे कर सकता है ? उसको उस अवस्था मे घडी का समग्र ज्ञान भी नहीं होता है इसलिये घडी को चलती हुई देखकर उसे आश्चर्य होता है।

इस घडी को देखने का जैसा अभ्यास रोज देखने वालो का बन जाता है, क्या वह ज्ञान भी पूरा है ? आप मे से अधिकांश यह जानते हैं कि घडी के कल पुर्जे पीछे की तरफ होते हैं तथा उन कल पुर्जों के कारण ही घडी चलती है। लेकिन आप मे से कई लोग वे कल पुर्जे कौन-कौन से हैं, कौनसा पुर्जा क्या करता है तथा खराब हो जाने पर किस पुर्जे से घडी का कौनसा नुक्स किस तरह ठीक किया जा सकता है—यह सब नही जानते हैं। यह

स्वरूप जान लेने के बाद ही घड़ी को व्यवस्थित ढंग से सम्हालने की सही क्षमता बन पाती है ।

एक प्रकार से आपकी जिन्दगी भी इस घड़ी के मानिन्द है । आप सोचें कि आप अपनी जिन्दगी की घड़ी को भी किस रूप में देख रहे हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जीवन को आप एक पहलू से ही देख रहे हैं ? कुछ ऐसी बात हो सकती है कि भीतरी जीवन को देखने और समझने की कला का समुचित रूप से विकास ही नहीं हो पाया हो ।

नेत्रों में मोतिया बिन्दु जम जाता है और दिखाई देना बन्द सा हो जाता है । डॉक्टर को बताते हैं तो वह कहता है कि नेत्रों के सामने मोतिया बिन्दु आ गया है और ऑपरेशन की सलाह देता है । रोगी भी ऑपरेशन कराना चाहता है तो ऑपरेशन हो जाता है । लेकिन यह मोतिया बिन्दु क्यों आया—इसका अनुसंधान न तो प्रायः का रोगी ही करता है और न अधिकांश डॉक्टर ही करते हैं । नेत्रों का यह दोष बाहर के कारणों से पैदा हुआ या किन्हीं भीतरी कारणों से पैदा हुआ—इसको जानने की क्षमता पैदा होनी चाहिये ।

बाहर से आकर चाबी लगाता है तब आपका जीवन चलता है या अन्दर की चाबी से अपने आप चलता है ?

आप अपने स्थान पर आनन्द से बैठे हुए थे तब आपकी दृष्टि घडी की तरफ गई कि वह साढे आठ बजा रही है—आपके मन मे आया कि अब व्याख्यान मे चलना चाहिये तो व्याख्यान मे चलने तथा सुनने की प्रेरणा किसने दी? घडी ने दी या किसी ने अन्दर की चाबी भरी जिससे आप उठकर चल दिये। यह भी कभी ध्यान लगाया है कि वह प्रेरणादाता कौन है ? उसकी प्रेरणा पाते ही शरीर को आज्ञा हुई। इतने बड़े शरीर को किसी को उठाने के लिये कहें तो शायद कमजोर व्यक्ति तो उठा भी नही पायगा। लेकिन प्रेरणा मिलते ही शरीर झट से उठ जाता है और चल पड़ता है। रास्ते मे बड़ी संख्या में वाहन चलते रहते हैं लेकिन दुर्घटना नहीं घटती और शरीर सुरक्षित रूप से धर्मस्थान तक पहुच जाता है तो उसे सुरक्षित रूप से घर से यहा तक लाने वाला कौन है ?

इन सभी छोटी-छोटी बातों पर गहरा चिन्तन करिये और ज्ञान करिये कि आपके जीवन का सचालन कौन किस विधि से कर रहा है ? आप स्वयं भी जिन्दगी की घडी को देखिये, बाहर से ही नहीं, भीतर से भी देखिये कि उसके कल पुर्जे क्या हैं और वे किस तरह तथा किस प्रेरणा से चलते हैं ?

मन को शिकायत क्यों ?

जो इस शरीर का संचालन कर्त्ता है वह इस शरीर से ऊंचा है; वह इस शरीर का स्वामी है। जिन्दगी की इस घडी को चलाने वाला इस शरीर का भी मालिक होता है, उसका गुलाम नही होता है। लेकिन कब ? जब वह मालिक अपने आपको सभाले तब। मालिक अगर अपने आपको मालिक नही समझता है और नौकर को ही मालिक समझ कर चलने लग जाता है तो वैसा मालिक अपने नौकर का भी गुलाम हो जाता है– वह अपनी मालिक की हैसियत को ही भूल जाता है। तब वह मालिक की तरह चले—यह हकीकत नहीं रहती है। वैसी आत्मा अपने सचालन होने का गौरव भूल जाती है और शरीर जिस तरह उसको चलाता है, उसके अनुसार वह चलने लग जाती है वहा नौकर का मालिक पर शासन हो जाता है।

जो आत्मा निज स्वरूप को पहिचान जाती है तथा अपनी संचालन शक्ति को समझ लेती है वह अनुभव कर लेती है कि मैं तो स्वामिनी हूं, शरीर तथा दूसरे बाहरी तत्वों को मैं अपने अनुशासन में चलाने वाली हु। ऐसी

इसका आत्म-नियंत्रण भी अवश्य होती है। आत्म-नियंत्रण एवं आत्म-संचालन की व्यवस्था में सारे अनुचर स्वामी का संकेत पाकर ही चलते हैं। स्वामी के संकेत के विपरीत चलने का कोई साहस ही नहीं कर सकता है। यदि इस शरीर के बहुत बड़े कारखाने को चलाने वाले कारीगर ने यह ज्ञान कर लिया कि यह सारा कारखाना मेरे कंट्रोल में है और मेरे चलाये ही यह कारखाना चल सकेगा तो फिर क्या मजाल है कि आपका शरीर और आपकी सारी इन्द्रियाँ अपने मालिक की इजाजत के बिना कहीं भी इधर-उधर जा सकें।

भाइयों को बहुत बार शिकायत रहती है कि हमारा यह मन ठिकाने पर नहीं रहता है। भला आप अपने मन के स्वामी हैं या मन के दास? आप किसकी शिकायत कर रहे हैं? क्या अपने ही अनुचर की? अपने अनुचर को कंट्रोल में रखने का काम उसके स्वामी का होता है क्योंकि स्वामी ही अनुचर को दंड दे सकता है। अपने स्वामी होने की स्थिति को आप ही पहिचानिये तथा महसूस कीजिये। मैं क्या कहूँ—यह आपके ही गंभीर चिन्तन का विषय है। आप ही सोचें कि आपके जीवन में कितनी गहरी मूर्छा है और कितना कुछ जीवन पर इस शरीर और इन्द्रियों का दबाव है?

पर मैं स्वामी हूं इस स्वरूप की जानकारी भी तभी संभव है जब भाव निद्रा से जाग्रत हो जाय। भाव निद्रा से जाग्रत होने के बाद यदि द्रव्य निद्रा आ भी जाय तो वह उस स्वरूप जानकारी मे उतनी बाधक नहीं है। आचारांग सूत्र मे प्रभु ने फरमाया कि—

'सुत्ता अमुणी मुणीणो सया जागरन्ति।'

इसमें अमुणी को सोया हुआ कहा गया है और मुणि को सदा जाग्रत कहा है। हालांकि मुनि भी द्रव्य निद्रा लेते हैं फिर भी उनको सुसुप्त नहीं कहा गया। क्योंकि द्रव्य निद्रा स्वरूप बोध बाधक नही होती। किन्तु भाव निद्रा मे बेभान आत्मा बाहरी स्वरूप को ही सब कुछ मानकर चलती रहती है। निज स्वरूप की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता, ऐसी आत्माओ के लिए सुत्ता अमुणी के रूप मे भगवान ने संकेत किया।

ऐसी आत्माएं भौतिक पदार्थों मे ही आनन्द की अनुभूति करती रहती हैं। शरीर के सुख-दु.ख मानकर चलती हैं। आभ्यन्तर ज्योति की ओर उनका कोई लगाव ही नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे वे अपने जीवन को अव्यवस्थित रूप से ससार मे घसीटती रहती हैं।

आनन्दानुभूति का रहस्य :

कभी भाई आकर पूछते हैं—महाराज, क्या आपकी तबियत ठीक है ? मैं जब उत्तर देता हू कि भाई आनन्द है तो वे कहते हैं—महाराज तबियत तो ठीक ही नही है, फिर आनन्द कैसे है ? वे इस 'आनन्द' शब्द का अभिप्राय समझ नही पाते हैं। शरीर की दृष्टि से यदि कोई वेदना है और उसके पीछे आत्मा रोती है और सोचती है कि कोई आनन्द नहीं है तो यह सोचने लायक बात है। जो आत्मा शरीर की वेदना को भी तटस्थ भाव से देखती और सहती है, वह शरीर की वेदना में अपने आनन्द को खो नही देती है। मैं यही सोचता हू कि शरीर में वेदना है लेकिन इस वक्त आत्मा की दृष्टि से आनन्द ही है।

जिन्दगी के भीतरी कल पुर्जों को ठीक तरह से समझ लेते हैं और ठीक तरह से काम मे लेते हैं तो यह विश्लेषण सहज ही में समझ में आ जाता है कि शरीर का दु:ख आत्मा का दुःख नहीं बनना चाहिये। अफीम हाथ में ले लेने से क्या आप पर अफीम का नशा छा जाता है ? हकीकत मे तो अफीम

तो रोग नहीं जायगा, इसलिये वह पीता है। दोनों की पीने की क्रियायें समान हैं लेकिन दोनो के हेतु मे कितना अन्तर पडा ? इसी प्रकार से बहिरात्मा और अन्तरात्मा खाने-पीने की समान क्रियाएं करती हैं फिर भी उनका दृष्टि-कोण अलग-अलग है।

एक वक्त राजा जनक के पास एक सन्यासी पहुंच गया। उसको संन्यास लिये काफी वर्ष हो गये थे, भगवा कपड़े भी पहिनता था और राम-नाम भी लेता था लेकिन जब खाने के लिये बैठता तो उसका मन अच्छे-अच्छे पदार्थ खाने के लिये बहुत छटपटाता। उसके भक्त कहते भी थे कि आप साधु बन गये हैं फिर भी इतने स्वादु कैसे हैं ? वह उत्तर देता—क्या करूं ? यह जबान बडी चटकोरी है। एक बार एक भक्त ने कह दिया कि जबान चटकोरी है तो अन्तरात्मा बनें, लालसा छूट जायगी। उसने कहा - यह कठिन है। भक्त बोला—कैसे कठिन है ? आप राजा जनक को देखें—वे सब कुछ बाहरी काम करते हुए भी बाहरी पदार्थों मे कही भी आसक्त नहीं हैं। यह जानकर वह सन्यासी निर्लिप्तता की उस अवस्था को देखने के लिये राजा जनक के पास पहुच गया।

सन्यासी ने जाकर राजा जनक से इस सम्बन्ध में प्रश्न भी कर लिया। राजा ने कहा—इसका उत्तर पाना है तो प्रतीक्षा करें। आप इस राज्य मे रहें और मेरे राज-भवन मे भोजन करें। सन्यासी के मन मे जिज्ञासा थी कि मेरा मन वश मे नही है तो राजा के बताने से जरूर कोई बोध मिल जायगा। अब सन्यासी रोज राजभवन मे भोजन करने लगे—बहुत ही स्वादिष्ट भोजन। एक दिन जैसे ही वे भोजन करने पहुचे। वहा थाल मे बहुत ही स्वादिष्ट भोजन परोसा गया—उसकी सुगध चारो ओर फैल रही थी। उसी समय सेनाध्यक्ष राजा जनक का आज्ञापत्र लेकर आया जिसको पढकर सुनाया गया। लिखा था कि सन्यासी को बढिया भोजन कराया जाय और बाद मे दो बजे फासी के तख्ते पर चढा दिया जाय। यह आज्ञा सुनते ही हाथ का नवाला हाथ मे ही रह गया। मौत की छाया मे सन्यासी सारा स्वादिष्ट भोजन भूल गये। वे घबरा कर कहने लगे—यह तो बताया जाय कि मेरा अपराध क्या है ? सेनाध्यक्ष ने कहा—मुझे तो आज्ञा का पालन करना है। आप आराम से भोजन कर सकते हैं। हा, आपको कोई आखिरी इच्छा हो तो बता दीजिये, वह पूरी की जायगी। सन्यासी भोजन कैसे करते - बोले—मुझे एक बार राजा जनक से मिलवा दीजिये। सेनापति सन्यासी को राजा जनक के पास ले गया। जनक ने पूछा—स्वामीजी, भोजन तो आपने पूरा कर लिया है, कोई कमी

तो कहाँ रही ? त्यागी ने डरते-डरते कहा—भोजन तो बहुत अच्छा था मगर आया नहीं—आनन्द नहीं आया। मैं तो आपके पास आपकी निर्लिप्तता का रहस्य जानने आया था, आपने मुझे फाँसी पर चढाने की आज्ञा क्यो देदी ? ऐसा मेरा क्या अपराध हो गया ? तब राजा जनक ने मुस्कराते हुए कहा—अच्छा आपको फाँसी नहीं होगी, लेकिन फाँसी की आज्ञा होने पर जिस तरह आपका आनन्द उड गया, वैसे मेरा आनन्द उड़ता नहीं है क्योंकि मेरा आनन्द मेरी आत्मा में रमा रहता है—किसी बाहरी पदार्थ; घटना या क्रिया पर आधारित नहीं होता। आप अपनी तुलना कर लें—मेरी निर्लिप्तता का यही रहस्य है।

आसक्ति मे आनन्द कहाँ ?

है। दोनों उस समय बहिनों के रूप में है—दोनों का रूप एक सरीखा है, पोशाक एक सरीखी है, वह बहिन को भी देख रहा है और पत्नी को भी देख रहा है लेकिन बहिन को किस भावना से देखता है और पत्नी को किस भावना से देखता है? उस क्षण उसके जीवन मे दो वृत्तिया चलती हैं। बहिन के प्रति उसकी जो वृत्ति होती है—भावना बनती है, वह निर्लिप्त होती है। यदि ऐसी निर्लिप्त वृत्ति उसकी ससार को समस्त माताओ के प्रति हो जाय तो उसके जीवन का स्वस्थ विकास सम्पन्न हो जाय। लिप्तता जितनी बढती है, वह शरीर के माध्यम से बढती है—शरीर की उद्दडता से बढती है। शरीर मे मन और इन्द्रियां बेकाबू हो जाती हैं तब शरीर उद्दड बनता है। इसलिये अन्तरात्मा को जगाकर इस लिप्तता का परित्याग करना चाहिये। जितनी निर्लिप्तता का विकास होता जाता है, उतने ही रूप में जिन्दगी का रहस्य प्रकट होता जाता है, क्योकि जो जिन्दगी की घडी के भीतरी कल पुर्जों को जान लेता है, वह जिन्दगी की घडी को पूरी तरह से पहिचान लेता है।

अन्तरपट खोलो. आनन्द ही आनन्द :

भगवान् महावीर ने कहा है—

> जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणई।
> जे बहिया जाणई, से अज्झत्थं जाणई॥

यदि जीवन के रहस्य को देखना है तो अन्दर में प्रवेश कीजिये। पहले भीतर को जानिये क्योकि जो भीतर को जान लेता है, वह बाहर को भी जान लेता है। भीतर जानकर फिर बाहर को जो जानता है वह वस्तु स्वरूप की वास्तविकता को जानता है। जिन्दगी की घडी के भी पहले भीतर के कल पुर्जे जान लें और फिर बाहर के कांटो को समझ लें तो घडी के समग्र रूप को जान जायेंगे। जीवन के रहस्य को इसी रूप मे जान सकते हैं।

भीतर को पहले जानने का अर्थ है कि अन्तरात्मा बनें। अन्तरात्मा की बाहर जो दृष्टि पडेगी वह आन्तरिकता को लिये हुए होगी अत. वह दृष्टि जीवन को तटस्थ भाव से देख सकेगी। यह तटस्थता, यह निर्लिप्त वृत्ति जीवन मे सच्चा आनन्द पैदा करेगी। वह आनन्द अलौकिक होगा।



इस विषय में सम्पूर्ण व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मत साधारण जनता के समक्ष आते हैं। इस मत भिन्नता मे अधिकतर सामान्य जन उलझन में पड जाते हैं। जहां आचरण को कठोर स्वरूप समझ करके अपनी आत्मा को स्थिर नहीं कर सकने वाले महानुभाव सस्ता आनन्द ढूंढते हैं और उसके लिये बौद्धिक श्रम को ही सब कुछ मानकर चलते हैं। उनका एक ही कथन रहता है कि आत्मा को मोक्ष का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये—एक मात्र ज्ञान से सम्पूर्ण साधना सफल हो जायगी। कठोर तप करना, साधना के कठिन मार्ग पर गमन करना इस आत्मा को कष्ट मे डालना है, संकट में डालना है और इसको अनावश्यक रूप से दुःख देना है। ऐसी कठोर साधना से विशेष प्रयोजन नही है। वे यही कहते हैं कि सिर्फ ज्ञान की साधना कर लीजिये-ज्ञान पक्ष ही मुख्य है तथा ज्ञान ही सब कुछ है। इस प्रकार ज्ञान मार्ग को बताने वाले कोरी दिमागी कसरत करते रहते हैं और उपदेश मे भी यह बात प्रमाणित करते रहते हैं कि अन्य किसी अनुसधान या आराधन की आवश्यकता नहीं है—सिर्फ ज्ञानार्जन करने से ही सफलता मिल जायेगी।

ऐसे विचार जन मानस के समक्ष आते रहने से, उसमें गति करने वाले भद्रिक प्राणि उनके तर्कों के जाल में बुरी तरह से उलझ जाते हैं और वे सोचते हैं कि पाचों इन्द्रियों के सुख को तो इस साधना मार्ग मे कोई बाधा पहुंचती नही है, फिर इस सुगम मार्ग को क्यो न मान लें? इस विचार से बढिया-से-बढिया खाना खाया जा सकता है, सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहने जा सकते हैं तथा ससार मे जितनी भी शरीर सज्जा एवं सुख सुविधा की सामग्रियां उपलब्ध हैं, उन सभी का उपयोग किया जा सकता है—उपयोग लिया जा सकता है। पर उनको यह नही सूझता कि यदि कोरे ज्ञान से ही सब कुछ सिद्धि प्राप्त की जा सकती है तो फिर ऐसा हो जाना चाहिये कि जब भूख लगे, ज्ञान का अन्न बन जाय; जब प्यास लगे तो ज्ञान का जल बन जाय अथवा जो भी अन्य आवश्यकता हो वह सामग्री भी ज्ञान से बन जाय क्योंकि ज्ञानार्जन के सिवाय दूसरा कोई काम तो करना ही नही है। सिर्फ ज्ञान को मानते हैं, क्रिया को नहीं तो ज्ञान ही से सब कुछ मिलना चाहिये। लेकिन सिर्फ ज्ञान से कोई अपनी क्षुधा और तृषा शान्त कर सकता है क्या? उसे ज्ञान है कि अमुक-अमुक स्थान पर भोजन और जल प्राप्त होता है, लेकिन उस ज्ञान के साथ वह अमुक-अमुक स्थान पर जाने और उचित क्रिया करने का कष्ट नहीं करे तो क्या उसे बिना क्रिया के भोजन और जल प्राप्त हो जायगा? ज्ञान करने वाले को कहा जाय कि वह भोजन की सुन्दर कल्पना करके ही अपनी भूख को मिटाले—भोजन को

इस विषय में अपूर्ण व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मत साधारण जनता के समक्ष आते हैं। इस मत भिन्नता मे अधिकतर सामान्य जन उलझन में पड जाते हैं। जहाँ आचरण को कठोर स्वरूप समझ करके अपनी आत्मा को स्थिर नहीं कर सकने वाले महानुभाव सस्ता आनन्द ढूंढते हैं और उसके लिये बौद्धिक श्रम को ही सब कुछ मानकर चलते हैं। उनका एक ही कथन रहता है कि आत्मा को मोक्ष का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये—एक मात्र ज्ञान से सम्पूर्ण साधना सफल हो जायगी। कठोर तप करना, साधना के कठिन मार्ग पर गमन करना इस आत्मा को कष्ट मे डालना है, संकट में डालना है और इसको अनावश्यक रूप से दुःख देना है। ऐसी कठोर साधना से विशेष प्रयोजन नही है। वे यही कहते हैं कि सिर्फ ज्ञान की साधना कर लीजिये-ज्ञान पक्ष ही मुख्य है तथा ज्ञान ही सब कुछ है। इस प्रकार ज्ञान मार्ग को बताने वाले कोरी दिमागी कसरत करते रहते हैं और उपदेश मे भी यह बात प्रमाणित करते रहते हैं कि अन्य किसी अनुसधान या आराधन की आवश्यकता नहीं है—सिर्फ ज्ञानार्जन करने से ही सफलता मिल जायेगी।

ऐसे विचार जन मानस के समक्ष आते रहने से, उसमें गति करने वाले भद्रिक प्राणि उनके तर्कों के जाल में बुरी तरह से उलझ जाते हैं और वे सोचते हैं कि पाचों इन्द्रियों के सुख को तो इस साधना मार्ग मे कोई बाधा पहुंचती नही है, फिर इस सुगम मार्ग को क्यो न मान लें? इस विचार से बढ़िया-से-बढ़िया खाना खाया जा सकता है, सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहने जा सकते हैं तथा ससार मे जितनी भी शरीर सज्जा एवं सुख सुविधा की सामग्रियां उपलब्ध हैं, उन सभी का उपयोग किया जा सकता है—उपयोग लिया जा सकता है। पर उनको यह नही सूझता कि यदि कोरे ज्ञान से ही सब कुछ सिद्धि प्राप्त की जा सकती है तो फिर ऐसा हो जाना चाहिये कि जब भूख लगे, ज्ञान का अन्न बन जाय; जब प्यास लगे तो ज्ञान का जल बन जाय अथवा जो भी अन्य आवश्यकता हो वह सामग्री भी ज्ञान से बन जाय क्योकि ज्ञानार्जन के सिवाय दूसरा कोई काम तो करना ही नही है। सिर्फ ज्ञान को मानते हैं, क्रिया को नहीं तो ज्ञान ही से सब कुछ मिलना चाहिये। लेकिन सिर्फ ज्ञान से कोई अपनी क्षुधा और तृषा शान्त कर सकता है क्या? उसे ज्ञान है कि अमुक-अमुक स्थान पर भोजन और जल प्राप्त होता है, लेकिन उस ज्ञान के साथ वह अमुक-अमुक स्थान पर जाने और उचित क्रिया करने का कष्ट नहीं करे तो क्या उसे बिना क्रिया के भोजन और जल प्राप्त हो जायगा? ज्ञान करने वाले को कहा जाय कि वह भोजन को सुन्दर कल्पना करके ही अपनी भूख को मिटाले—भोजन को

प्राप्त करने की कोई क्रिया नहीं करे तो क्या उसका काम बन जायगा ? वह काम नहीं बनेगा तथा उसको ज्ञात होगा कि सिर्फ ज्ञान से काम चलने वाला नहीं है।

विषय और व्यवहार की गहराई में उतरने पर ही यह विचार–स्पष्टता उत्पन्न होगी कि ज्ञान के साथ क्रिया करनी भी आवश्यक है।

ज्ञान क्रिया से अपवर्ग नहीं :

न सिर्फ ज्ञान से यह आत्मा अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकती और न सिर्फ क्रिया के ही बल पर आत्मा अपना परम विकास साध सकती है। जो इस तरह के एकान्त मत लेकर चलते हैं, वे स्वयं भी भ्रम में रहते और अन्य भद्रिक व्यक्तियों को भी भ्रम में डालते हैं और जहां तक कोई भ्रम में रहता है, वह उस कार्य को भी ठीक ढंग से नहीं कर सकता है जिसमें वह अपनी मान्यता रखता है।

कुछ व्यक्ति सिर्फ क्रिया को ही सब कुछ मानकर चलना चाहते हैं। यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान से कुछ भी नहीं बनता है, आचरण ही सिद्धि का मूल है। अगर जीवन को आचरण की भट्टी में झुलसादें तो परमानन्द प्राप्त हो जायगा। वे इसी आधार पर अत्यन्त कठिन एवं कठोर आचरण पद्धति को अपनाते हैं तथा कभी–कभी बड़ी–बड़ी लम्बी तपश्चर्या कर लेते हैं। तीस दिन तक सिर्फ गर्म पानी के आधार पर रहकर एक दिन भोजन किया और फिर तीस दिन की वैसी ही तपश्चर्या प्रारंभ करदी–ऐसा कठोर तप करने वाले, सूर्य की घोर आतापना लेने वाले, कड़कड़ाती गर्मी के मौसम में मध्याह्न की धूप में खड़े रहने वाले और कठोर आचरण से चमड़ी तक को काली कर देने वाले ये सारी कठोरताएं सहन करके यही सोचते हैं कि इनसे उनको परम आनन्द प्राप्त हो जायगा।

इस तरह से कोरी क्रिया के पक्षधर ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, ज्ञान को भार समझते हैं और कहते हैं कि जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह भी मरता है और जो ज्ञान नहीं प्राप्त करता है, वह भी मरता है, फिर ज्ञान का बोझ उठाने से क्या लाभ ? ऐसे कुतर्क देकर वे जीवन को ज्ञानहीन कठोर क्रिया में लगा देते हैं।

लेकिन ज्ञानीजन कहते हैं कि यदि इस प्रकार की ज्ञान शून्य क्रिया करने से परम आनन्द मिल जाता हो तो उन मजदूरों को तो वह परम आनन्द मिल जाना चाहिये या जो चौबीसों घंटे न गर्मी देखते हैं और न सर्दी या

बरसात एवं कठोरतम श्रम करते रहते हैं तथा शरीर को कष्टित बनाते रहते हैं। प्रभु महावीर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अज्ञान पूर्वक किया जाने वाला तप और अज्ञान पूर्वक की जाने वाली कठोरतम क्रियाए भी शुभ फल-दायी नहीं होती हैं, वल्कि ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना की तुलना मे वैसी क्रियाए १६ वें अश का महत्व भी नही रखती हैं। कहा गया है कि—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुजई।
न ते सुअक्खवाय धम्मस्स, कल्ल अग्घई लोलसि॥

अर्थात् कठोरतम क्रिया को अंगीकार करने वाला लेकिन ज्ञान की उपेक्षा करने वाला महीने-महीने की तपस्या करके बिलकुल डंठल की तरह सूख जाय, फिर भी ज्ञान का अभाव होने से उसका वह कठोर तप सुअख्यात धर्म के १६ वे अश मे भी नहीं आता है। एक छोर ज्ञान का है तो एक छोर क्रिया का है। जब तक एक को ही साधना की जाती है तो उस एकागी साधना से काम नहीं बन सकता है।

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः :

ज्ञान और क्रिया दोनों का सुन्दर समन्वय बना कर जो सच्चे श्रद्धान के साथ साधना करता है, वही यथार्थ में जीवन की समग्र रूप से साधना कर सकता है। वीतराग देवो ने सारे तथ्यो को जानकर साधना के समय ज्ञान तथा क्रिया दोनों का समन्वय करने का निर्देश दिया। ज्ञान और क्रिया दोनो साधना रूपी रथ के दो पहिये हैं, जो पूरी तरह सन्तुलित और समन्वित होते हैं तभी रथ तीव्र गति से चल सकता है। दोनो पहियो मे जितनी समानता और सुदृढता होती है, उतना ही रथ की गति मे अधिक सन्तुलन और समन्वय होता है। वह रथ अपने गंतव्य स्थान पर शीघ्र और सुरक्षित पहुचता है। वैसे ही ज्ञान और क्रिया से सन्तुलित तथा समन्वित साधना सुव्यवस्थित रूप से मोक्ष के द्वार तक पहुंचा देती है। यथा ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष.।

ज्ञान और क्रिया का श्रेष्ठ समन्वय करने वाला साधक मोक्ष को साध लेता है और परम आनन्द को प्राप्त कर लेता है। ऐसी साधना ही उत्तम रूप से आध्यात्मिक साधना होती है जो कल्प-वृक्ष के समान मनोरथ पूरा करने वाली साधना होती है। इसी साधना के फल रूप उत्कृष्ट आनन्द की उपलब्धि होती है।

इसी सत्य को समन्वित रूप मे कवि ने अपनी प्रार्थना में आत्मा की

तीन अवस्थाओं को बतलाते हुए अभिव्यक्त किया है और कहा है कि आध्यात्मिकता की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। बहिरात्मा का स्वरूप-विवेचन काफी किया जा चुका है और अन्तरात्मा के विषय में भी कुछ संकेत दिया है। अन्तरात्मा का पूर्ण विकसित स्वरूप ही परमात्मा का स्वरूप होता है। परमात्मा पद की जो प्राप्ति है वही परमानन्द की अवस्था होती है। यह परमात्मा पद ज्ञान और आचरण की संयुक्त साधना से ही प्राप्त होता है। प्रार्थना में भी कहा गया है—

ज्ञानानन्द हो पूरण पावनो,
वर्जित सकल उपाध। सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुण गण मणि आगरू,
एम परमातम साध। सुज्ञानी।
बहिरातम तजि अंतरआत्मा,
रूप थई स्थिर भाव। सुज्ञानी।
परमातम नुं हो आतम भाव नु,
आतम अर्पण दाव। सुज्ञानी।

ज्ञान और उसके साथ आनन्द माने ज्ञानानन्द तभी प्राप्त होता है जब शुद्ध ज्ञान सक्रिय बनता है। सच्ची श्रद्धा के साथ ज्ञानार्जन किया जाना चाहिये और ऐसा ज्ञान ज्यों-ज्यों अभिवृद्ध होता है, त्यों-त्यों वह आचरण में क्रियान्वित होना चाहिये। उस अवस्था में आचरण का जो स्वरूप बनता है वह ज्ञानमय साधना का स्वरूप होता है। यही त्रय रत्न का स्वरूप बनता है सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान तथा सम्यक चारित्र का स्वरूप, जो मोक्ष मार्ग कहा गया है। यथा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्ग इस त्रय रत्न के साधना मार्ग पर जो आगे बढ़ना होता है, वही वस्तुत मोक्ष की ओर गति करना होता है तथा उसके प्रवर्ति क्रम में परम आनन्द की अनुभूति प्राप्त होने लगती है। जीवन के समग्र रूप की साधना का समापन परमानन्द की प्राप्ति में हो जाता है।

ज्ञान के साथ क्रिया की आवश्यकता

आध्यात्मिक कल्पवृक्ष तभी पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो सकता है जब उसका मूल सदा हरा रहे—सुदृढ़ रहे। उसका मूल है ज्ञान और क्रिया दोनों और दोनों के समन्वित एव सन्तुलित रूप को स्पष्ट करने के लिये यों कह सकते हैं कि ज्ञानमय क्रिया हो तथा क्रियामय ज्ञान हो अर्थात् क्रियाहीन

प्रेरणा से इस आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने की उमंग जागती है। आनन्द रूपी फल चखाने वाली यही स्कूल है सो पहले इसमे प्रवेश लें फिर क्रमिक रूप से साधना करते हुए परमानन्द को वरण कर सकेंगे। कोई बच्चा दूसरी कक्षा मे भी पास नहीं हो और वह चाहे कि एम. ए. पास करलूं तो क्या यह सभव है? विकास तो क्रमिक रीति से ही हो सकता है—यह दूसरी बात है कि एक मील की दूरी को कोई कछुए की चाल चलकर पूरी करे या तेज कदमों से पूरी करे अथवा दौड कर पूरी करे। लेकिन दूरी को पार तो क्रमिक गति से ही कर सकेंगे।

आज के मानव की वृति कुछ विचित्र बनी हुई है। वह व्यर्थ की चीजों के लिये तो कई वर्ष लगा देता है, लेकिन जो स्थायी आनन्द के विषय हैं, वहां उदासीनता बरतता है। जहा उदासीनता रहती है, उस लक्ष्य को प्राप्त करना सभव नहीं होता है। समझें कि एक व्यक्ति सडक पर चल रहा है लेकिन उसकी दृष्टि अन्यान्य दिशाओं में घूम रही है, उस दशा मे यदि उसके पैरो के बीच में कोई रत्न भी आ जायगा तो वह उसे नहीं देख पाने के कारण ठोकर देकर आगे निकल जायगा लेकिन उसको प्राप्त नहीं कर सकेगा। उदासीनता तो सफलता की शत्रु होती है। इस कारण आनन्द रूपी फल को प्राप्त करने की गहरी लगन भी होनी चाहिये। ज्ञान, क्रिया, श्रद्धा, लगन या निष्ठा—सब जब एक जूट बन जाते हैं तो आध्यात्मिक कल्प–वृक्ष भी पनप जाता है तथा उसके आनन्द रूपी फल भी मिल जाते हैं।

साधना की आधार शिला · सही निष्ठा :

आध्यात्मिक कल्प–वृक्ष के रूप में इस जीवन में अन्तरात्मा का रूप होता है। जब साधक अन्तरात्मा की साधना मे लगता है तो पहले पहल उसके सामने कई प्रकार की कठिनाइयां आती हैं—सकट सामने होते हैं लेकिन साधक यदि बिना घबराए आगे बढता जाता है तो उसकी साधना विचलित नही होती है। जैसे कोई प्यासा व्यक्ति पानी की खोज मे जा रहा हो, उस समय उससे कोई गाली गलोज करे या उससे झगडा करने लगे तो वह उस तरफ कोई ध्यान नही देगा बल्कि हाथ छुडा कर भी आगे निकल जायगा क्योंकि उसको सब से पहले पानी प्राप्त करके प्यास मिटानी है। उसी प्रकार आध्यात्मिक साधक को भी एकनिष्ठ बनना होगा और उसके साथ सही श्रद्धा और दृढता रखनी होगी ताकि लक्ष्य की प्राप्ति के बीच में आने वाली कठिनाइयों का सामना किया जा सके।

साधना की आधारशिला है - एकनिष्ठा, सही श्रद्धा और दृढ़ता। यह आधारशिला यदि पुष्ट होती है तो साधना की सफलता मे भी कोई सन्देह नहीं

सुसंस्कारों की महती आवश्यकता !

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव ।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये सहु थापे अहमेव ॥

आध्यात्मिक दृष्टि से जब जीवन में विकास करने का प्रश्न आता है तो ज्ञान और विवेक के साथ यह अन्तर्चेतना सन्नद्ध हो जाती है । उस समय इस चेतना की चमक कुछ निराली ही होती है । उसको श्रेष्ठतम ज्ञान का ही खयाल आता है तथा उत्तम श्रेणी में पहुचने की भावना रहती है । यह नीचे के स्तर से उन्नति करती हुई ऊपर से ऊपर चढ़ती जाती है । ऐसे क्षणों में ही जीवन का तेजस्वी रूप बाहर अभिव्यक्त होता है । जीवन की आन्तरिक शक्तियाँ ही वाणी के द्वारा बाहर प्रकट होकर समग्र जीवन को एक नये ओज से सजा देना चाहती है ।

किन्तु ऐसी आत्मोन्मुख एवं विकासोन्मुख गति किसकी और कब बनती है ? आत्मा की तरफ रुख बनना तथा उसके विकास का विचार आना प्रारंभिक रूप से संस्कारों पर निर्भर करता है । जो शुभ और सुन्दर संस्कार कोमल वय में याने कि बाल्य काल में एक बच्चा ग्रहण कर लेता है, वे ही उसके जीवन में पुष्ट पृष्ठभूमि का रूप धारण करके उसे आत्मोन्मुख एवं विकासोन्मुख बनाने की प्रेरणा देते हैं । सुन्दर संस्कारों का बल जीवन को नयी दिशा में आगे बढ़ाने की दृष्टि से बहुत सहायता देता है । संस्कारों की पृष्ठभूमिका बनी हुई हो तो उस पर पैर जमा कर चढ़ें तो आत्मा सदा सत्य के साथ साधना के मार्ग पर चढ़ता अधिक आयासप्रद नहीं होता है ।

सुसंस्कारों का सुफल : आत्मदर्शन :

एक संस्कारी आत्मा ही अपना सुन्दर निर्माण सम्पादित कर सकती

जिन महात्मा ने राजकीय वैभव का त्याग करके आध्यात्मिक साधना की थी, उनका ध्यान शरीर की तरफ नहीं गया। सही ज्ञान, आचरण एवं शक्ति के साथ वे आनन्द रस मे डूबे हुए थे। उन्होंने जल्लाद को कहा—भाई तुम दुःखित मत होओ। मैं तो पहले ही इस जीवन से मुक्ति लेकर चल रहा हूं। यह शरीर तो आज नहीं, कल जाने वाला है। इस शरीर के लिये तुमको कष्ट नहीं होना चाहिये। महात्मा सथारा संलेखना के प्रसंग से सम भाव में रमण करने लगे। राग-द्वेष से मुक्त होकर वे परम-आनन्द का रसास्वादन करने लगे।

जल्लाद ने महात्मा की अखड चमडी उतार ली। महात्मा ने उस महान् कष्ट को परम समभाव से सहन किया। चमडी लेकर जल्लाद राजा के पास पहुचा। महाराजा प्रसन्न हुए कि अब महारानी को बतायेंगे कि तुम्हारे प्रिय पुरुष का क्या हाल हुआ है? योग ऐसा मिला कि मुनि की खून से लथपथ मुंहपत्ती का डोरा पकड कर एक चील इस तरह उडी कि जहां राजमहल मे महारानी बैठी थी उनके सामने ही उसके मुंह से छूटकर वह मुखवस्त्रिका गिर पडी। उसे देखते ही महारानी को लगा कि मुनि की घात हो गई है। इतने मे तो जो सुभट विश्राम करने चले गये थे वे मुनि की खोज करते-करते राजमहल तक पहुंच गये और महाराज से बोले—आप के सालाजी मुनि इस नगर में सुबह ही आये थे, हम साथ ही थे। हम विश्राम करने चले गये लेकिन अभी मुनि का कोई पता नही लग रहा है, आप कृपा करके खोज कराइये, वरना हम महाराज को क्या जवाब देंगे? अब तो राजा के मुंह पर हवाइयां उडने लगी। यह क्या घोर अनर्थ हो गया? फिर राजा और रानी भारी पश्चत्ताप मे डूबे और विरागी बनकर दीक्षित हो गये।

अविवेक का दुःखद फल :

इस कथानक का सार-यह-है कि सन्त जीवन पर इतना घोर सकट आया तब भी वे अपने आत्मिक आनन्द से वचित नही हुए। शरीर मेरा-नहीं है—यह मानकर इतनी बडी शारीरिक वेदना को वे समभाव से सह गये और परमानन्द मे डूबे हुए रहे। ऐसी आत्मिक आनन्द की उच्चतम अवस्था जिसको प्राप्त होती है, वही परमात्म स्वरूप का वरण करता है।

यह घटना किस प्रकार मानव के हृदय को विदीर्ण करने वाली है—अन्तस्थल को आलोड़ित करने वाली है? हृदय द्रवित हो जाता है। आप सोचेंगे कि मुनि के ऐसे क्या कर्म थे जो ऐसा प्रसग बना। पूर्व जन्म मे एक फल विशेष की पूरी छाल उतार कर सराह-सराह कर प्रसन्नता पूर्वक हिंसा में

ासक्त होकर खाने से जो निकाचित कर्म-बंध हुआ, उसका फल इस रूप में
ुगतना पड़ा। इस जन्म में मुनि ने ऐसी उत्कृष्ट साधना सिद्ध की कि सम-
ाव से उन्होंने इस घोर कष्ट को सहन किया तथा अपने आत्मिक आनन्द को
मर बना लिया।

आज का मानव अन्तरात्मा और परमात्मा का सही ज्ञान नहीं होने
सांसारिक कार्यों में गहरी रुचि रखता है, लेकिन कहता यह है कि हम कुछ
ीं जानते तो हमको कोई पाप नहीं लगेगा। भला जो जहर को नहीं जानता
ार जहर को खा लेता है, क्या जहर का असर उस पर नहीं होता? अफीम
जानकर भी जब बच्चा खा जाता है तो वह अपने प्राणों का नाश कर लेता
। अज्ञान की स्थिति में ही मानव पाप से रच-पच कर पाप करता है और
धना के मार्ग से ऊबता है। घंटे भर की सामायिक भी उसको कठिन लगती
। वह चौबीस घंटों में कितनी ककड़ियाँ चीरता है और पाप कार्यों में लगता
ऐसे कटु फल को ध्यान में लेकर पाप से बचना चाहिये। साधना नहीं बन
ं तब भी भावना यह रहनी चाहिये कि लाचारीवश जो गृहस्थी मे रहते
पाप कार्य करना पड़ रहा है, उसको कम करूं और छोटे-छोटे जीवों को
अभय दान दूं। ऐसी भावना के साथ कर्म बन्धन हल्का होता है तथा
धना की उत्कृष्ट श्रेणी उत्पन्न हो जाय तो शुद्ध अवस्था में कर्मों का क्षय
हो सकता है।

म्यक् पुरुषार्थ की आवश्यकता :

आध्यात्मिक कल्पवृक्ष के आनन्द रूपी फल आप अवश्य प्राप्त कर
कते हैं किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये ज्ञान-क्रिया युक्त साधना के रूप में
ापको कठिन पुरुषार्थ करना होगा। पुरुषार्थ के बिना कोई भी फल मिलता नहीं
और परम आनन्द का अनुभव, यह तो महान् फल है जिसके रसास्वादन के
ये पुरुषार्थ भी महान् होना चाहिये।

यदि आपका भी विचार कठिन पुरुषार्थ करने का है तो—यह चातुर्मास
ा समय है, इस साधना की स्कूल में भर्ती हो जाइये। इस स्कूल मे व्यक्ति,
ाति पाँति या पार्टी का भेद नहीं है। यह मानव मात्र के लिये ही नहीं,
ाणी मात्र के लिये खुला हुआ है। यहां तो गुणों को अपनाना है तथा सम-
ाव का विकास करना है। जिसको जितनी प्यास हो, उतना ग्रहण कर सकता
। आध्यात्मिक कल्पवृक्ष के बीज का वपन साधना के सूत्र से ही हो सकता
। चौबीस घंटो में कम-से-कम इस वृक्ष का सिंचन एक घंटे के लिये तो
अवश्य करें और एकनिष्ठा, श्रद्धा तथा दृढ़ता से ज्ञान और क्रिया की समन्वित
ाधना साधें। उससे कल्पवृक्ष अवश्य फलेगा और आनन्द का मधुर फल
अवश्य मिलेगा।

परतंत्र क्यों ?

सुमति चरण रज, आतम अरपणा; दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार; सुज्ञानी ॥

इस जीवन में मुख्य तौर पर दो अवस्थाएं काम कर रही हैं । एक स्वतंत्र अवस्था है और दूसरी परतंत्र अवस्था है । जहां स्वतंत्रता का प्रसंग है, वहां अपना तंत्र याने शासन चलता है याने कि आत्मानुशासन चलता है । सब कार्य स्वाधीन होते हैं । इस अवस्था में दूसरों का मुंह ताकने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । सब विचारों एवं कार्यों को एक स्वतंत्र आत्मा स्वयं की शक्ति से ही तथा स्वयं के विवेक से ही अपने साथ सम्बन्धित बनाती है । स्वाधारित होने के कारण ही एक आत्मा स्वतंत्र कहलाती है ।

परतंत्रता ठीक इसकी विपरीत अवस्था होती है । दूसरों के अधीन होकर तथा दूसरों की आज्ञा के अनुसार परतंत्र आत्मा को व्यवहार करना पड़ता है । जहां परतंत्रता का प्रसंग होता है, वहां स्वतंत्रता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है । इस जीवन की स्थिति के प्रसंग से आज जो कुछ भी बन रहा है, उसमें परतंत्रता की स्थिति अधिकांशतः दिखाई देती है । आत्मा की इस शरीर में अपने स्वभाव से विपरीत वृत्ति चल रही है । कहां तो उसे शरीर को अपने अनुशासन एवं नियंत्रण में चलाना चाहिये और कहां वह अपने इस अधिकार को भूल कर अपने स्वभाव से विपरीत स्वयं शरीर के अधीन हो रही है ? यह उसका परतंत्र भाव है ।

शक्ति स्वतंत्र, फिर परतंत्र क्यों ?

आत्मा की शक्ति सर्वतंत्र स्वतंत्र होती है । उसको अपना विकास

आपने अथवा अपना आन्तरिक आनन्द प्राप्त करने के लिये किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती है। सच्ची आत्मिक स्वतन्त्रता तभी कहलाती है जब बाहरी तत्व की आवश्यकता ही महसूस न हो। लेकिन वास्तविक स्थिति यह है कि यह आत्मा अपने मूल स्वभाव को विस्मृत करके तथा अपनी स्वतंत्र शक्ति को भुला करके अभी कार्य परतंत्रता से कर रही है। प्रत्येक कार्य के लिये उसको दूसरों की तरफ देखना पड़ता है और दीर्घकाल से इस आत्मा ने ऐसा ही समझ लिया है कि दूसरों के बिना मेरा काम नहीं चल सकता है। आत्मा की शक्ति स्वतन्त्र है, फिर भी उसकी स्थिति परतन्त्र क्यों है ?

यह आत्म-विस्मृति की अवस्था है, इस कारण उसमें आत्म विश्वास का अभाव सा आ गया है। ऐसी दशा में वह दूसरे तत्वों के अधीन, उनके आश्रित अथवा उनसे परतन्त्र बन गई है। ये दूसरे तत्व हैं जड़ पदार्थ। अभी आत्मा को यह महसूसगिरी हो रही है कि इन जड़ तत्वों की उपलब्धि एवं उपस्थिति से ही मैं आनन्दित रह सकती हूं। ये निर्जीव पदार्थ यदि मेरे साथ नहीं होते हैं तो मैं दुःखी हो जाऊंगी। जब वह ऐसी धारणा बना कर चलती रहती है तब वह अपनी वास्तविक स्वतन्त्रता को भूल सी जाती है। इससे उसकी स्वतन्त्रता दब सी जाती है और उसका फिर से निखर कर उभरना कठिन बन जाता है। आत्मा की इस अशक्त अवस्था में परतन्त्र शक्तियां उस पर हावी हो जाती हैं और आत्मा को अपने अधीन बनाकर चलाती हैं।

इस जीवन में यही उलझन सबसे बड़ी है तथा यही परतन्त्रता का प्रधान कारण है। इसी की वजह से यह आत्मा साधना के क्षेत्र में भी यथा योग्य गति से आगे नहीं बढ़ पाती है। धर्म के कार्यों में यह आत्मा इस जड़-गत परतन्त्रता के कारण दबती हुई सी चलती है। इसके अन्तःकरण में आत्मा और परमात्मा से साक्षात्कार करने की भावना अवश्य ही कभी-कभी जागृत बनती है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है किन्तु बाह्य पदार्थों की पराधीनता इसको अपने स्वभाव से तुरन्त दूर हटा देती है। आत्मा में आन्तरिक जिज्ञासा पैदा होती है कि वह अपने स्वरूप का तथा परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करे, किन्तु वह अपनी जिज्ञासा को स्वतन्त्र नहीं होने से पूरी नहीं कर पाती है।

साक्षात्कार मे बाधक उपाधि :

आत्मा इतनी परतन्त्रता अनुभव करने लग गई है कि अपने निज स्वरूप के तथा परमात्म-स्वरूप के दर्शन करने में भी उसको जड़ तत्वों की सहायता की अपेक्षा रहती है। वह सोचती है कि परमात्मा या निज-स्वरूप के दर्शन भी बाहरी साधनों की मदद से हो जाय।

दर्शन करने के लिये आत्मा अपनी आन्तरिक आंखों को नहीं खोलती है, बल्कि अपने शरीर की इन चमडे की आखों के पास जाती है और इनको फैलाकर देखना चाहती है कि परमात्मा कहा है ? परिणाम यह होता है कि परमात्मा के सही स्वरूप में उसको दर्शन नही हो पाते हैं, तब बाहर की आखों से देखने के लिये परमात्मा की काल्पनिक मूर्तिया बनाई जाती हैं या दूसरे-दूसरे प्रतीको की रचना की जाती हैं। यही आत्मा की उसके साथ सबसे बड़ी उपाधि है वह बाहर की कोशिशें करती है पर उनसे उसको आन्तरिक सन्तोष या आनन्द नहीं मिल पाता है। उपाधि का अर्थ यह है कि समीप मे रहने वाली अधीनता। उप से अर्थ है समीपता और अधि माने अधीनता। इस प्रकार उपाधि का अर्थ है परतत्रता। जितनी जिस आत्मा की उपाधि होती है, वह उस रूप मे अधीन बन जाती है। नेत्रो की रोशनी जब तक ठीक रहती है तब तक उप नेत्र की जरूरत नहीं होती है। उप नेत्र का अर्थ होता है चश्मा। यदि मूल नेत्रो मे कमजोरी आती है तो उप नेत्र की आवश्यकता पड़ती है। जिसके ज्यादा नम्बर का चश्मा चढ़ जाता है, उसको बिना चश्मे के देखने में दिक्कत आती है। चश्मे क बिना पढना लिखना भी नही हो सकता है तो इस रूप मे यह उनकी परतत्रता हो जाती है—चश्मे की। अधीनता हो गई। यह चश्मा उसके लिये उपाधि बन गया।

जैसे चश्मा उपाधि है, वैसे ही अंधकार भी उपाधि है। अधकार में व्यक्ति चश्मे की सहायता से भी नही देख सकता है इसलिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। चाहे सूर्य का प्रकाश हो अथवा दीपक का प्रकाश हो—उसकी प्रतीक्षा करनी पडती है। इस दृष्टि से प्रकाश भी एक अपेक्षा से उपाधि बन जाता है। जैसे प्रकाश और चश्मा इन नेत्रों के लिये उपाधि रूप हैं, वैसे ही ये बाहर के नेत्र भी आत्मा के लिये उपाधि स्वरूप हैं। ये नेत्र चमडे के है, इस कारण व्यक्ति चाहे कितना ही प्रयत्न करे, इन चमडे की आखो से चमड़े की चीजें ही नजर मे आवेंगी। इन आखो से जड़ तत्व ही दृष्टि गत होगे। जड़ तत्वो से भिन्न जो शुद्ध चेतन तत्व है, वह इन आंखो की दृष्टि मे नही आ सकता है। ऐसी दशा मे अरूपी आत्मा अथवा सिद्ध आत्मा के—परमात्मा के दर्शन या उनका साक्षात्कार इन बाहर की आंखों से करना चाहेंगे तो वह नहीं हो पायगा। इससे यह अनुमान पुष्ट हो जाता है कि इन चर्म चक्षुओ मे आत्मज्ञान करने की सक्षमता नहीं है क्योकि इस ज्ञान को प्राप्त करने मे ये उपाधि-स्वरूप हैं। और यह उपाधि है अक्षर ज्ञान की। अक्षर ज्ञान क बिना पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त नही कर सकते हैं।

भौतिक ज्ञान भी उपाधि रूप :

अक्षर ज्ञान की प्राप्ति में भी दो तरह का प्रसंग है। एक तो अक्षर ज्ञान से आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान प्राप्त किया जाय तथा दूसरा अक्षर ज्ञान से भौतिक तत्त्वों का विज्ञान लिया जाय अर्थात् अमुक वस्तु कैसे बनी है इसका ज्ञान किया जाय, व्यापार और कला का ज्ञान लिया जाय, विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया जाय अथवा जीवन के व्यवहार में आने वाले जो पदार्थ हैं उनका उपार्जन करने का ज्ञान लिया जाय। अक्षर ज्ञान के परिणाम भी इस रूप में दो प्रकार से सामने आते हैं कि व्यक्ति जीवन-निर्वाह के बाह्य साधनों को प्राप्त करने की तरफ ही ख्याल करता है या आत्म-स्वरूप की ओर भी अपना उपयोग लगाता है कि बाहरी वस्तुओं को देखते हुए अपने अन्त करण को भी देख ले। अन्त.करण को देखने की भावना हो जाने पर भी अगर उसका ध्यान बाहर की वस्तुओं की तरफ केन्द्रित हो रहा है तो वह उस अवस्था में निज-स्वरूप को नहीं देख पायगा क्योंकि जो व्यक्ति पर-पदार्थों में लीन है वह स्व-स्वरूप को देख नहीं सकता।

आत्मा में जब अपनी स्वतन्त्रता का भाव उत्पन्न होता है तभी वह अपने भीतर दृष्टि डालती है। तब वह सोचती है कि ये जितने बाहर के पदार्थ हैं, वे सारे के सारे आत्म-स्वरूप से पर पदार्थ हैं और वे आत्मिक-ज्ञान की प्राप्ति में उपाधि रूप हैं। जिसका मस्तिष्क बचपन से लेकर तरुणाई तक तथा तरुणाई से लेकर प्रौढ़ अवस्था तक पर पदार्थों मे-व्यापार और भोग सम्बन्धी परिस्थिति में मग्न रहा है, उस व्यक्ति का इन तत्त्वों में ऐसा कुछ अभ्यास हो जाता है कि उसको अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने मे काफी श्रम उठाना पडता है। उसको अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी मोड़ देने मे काफी कठिनाई आती है। जैसे खाद्य पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये एक दृष्टि से उपाधि है, वैसे ही जवाहरातो सम्बन्धी ज्ञान जो कीमती से कीमती हीरों की परख करवा सकता है पर वह ज्ञान आत्म-ज्ञान को प्राप्त कराने वाला नहीं होता है। वह आत्म-ज्ञान के लिये उपाधि स्वरूप ही होता है। वैसे ही एक व्यक्ति इन्जीनियरिंग की शिक्षा ले रहा है तो उसका ज्ञान मशीनो के कल पुर्जों की तरफ रहेगा और उन्हीं मे लीन होकर चलेगा। वह ज्ञान जरूरी हो सकता है, लेकिन आत्मिक ज्ञान के लिये उपाधि है। चाहे कोई डॉक्टरी का ज्ञान सीख रहा हो-शरीर के भीतरी तथा बाहरी अवयवो का ज्ञान कर रहा हो, वह भी आन्तरिक संवेदना का ज्ञान उससे नहीं कर सकता है। डॉक्टरी ज्ञान भी शरीर तक सीमित है तो वह भी आत्मिक ज्ञान के लिये उपाधि है।

दुनिया की दृष्टि से एक व्यक्ति बड़ा ज्ञानी कहला सकता है कि वह कुशल व्यापारी है, बड़ा इंजीनियर है, बड़ा वकील या बड़ा डॉक्टर है, लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि में तो वह प्रबोध ही कहलायगा ।

जिसको आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है, वह अन्तर्ज्ञानियों की दृष्टि मे ज्ञानी नहीं होता है । जितना इन सांसारिक पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान है, उस ज्ञान मे ही यदि मानव अपनी सारी शक्ति लगादे और उस शक्ति का प्रयोग आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने मे नहीं करे तो उस आत्मा के लिये एक जिन्दगी नहीं, अनेक जिन्दगियां बीत जायें तब भी न उसके अपने और न परमात्मा के दर्शन सुलभ हो सकते हैं । उसे परमानन्द का अनुभव भी नही हो सकता है ।

ये सारी उपाधियां भी आध्यात्मिक विकास मे उतनी बाधक होती हैं जितनी अशुद्ध उपयोग की बाधा होती है । जिन व्यक्तियो का ध्यान अशुद्धता याने कि अपवित्रता की ओर होता है वे अधिकतर यही सोचते हैं कि मैं अमुक व्यक्ति को कैसे गिराऊं और अमुक पदार्थों की उपलब्धि कैसे करलूं ? अमुक व्यक्ति मेरे से अमुक-अमुक बातो मे ऊपर कैसे चढ गया है तो उसको उसकी प्राप्तियो से वंचित कैसे कर दूं ? यह अशुभ चिन्तन इतनी बडी उपाधि है कि जिससे यह आत्मा गर्त मे गिर जाती है । जो व्यक्ति इस प्रकार दूसरों को गिराने की चेष्टा करता है, वह अपनी स्वयं की शक्तियो को गिरा देता और पतन के रास्ते पर लग जाता ।

यह आत्मा की परतन्त्रता का परिणाम होता है । इस हीन अवस्था का विचार करते हुए आत्म-चिन्तन मे आत्मा की स्वतन्त्रता का भाव उभरना चाहिये और उसको लक्ष्य बनाकर साधना के मार्ग की ओर आगे बढ़ना चाहिये ताकि आत्मा को स्वतन्त्र बना सकें और आत्म-शक्ति का सही रीति में विकास करके सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर सकें ।

स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक सम्यग् ज्ञान :

ज्ञानी जनो का आत्म-साधना की दृष्टि से संकेत है कि यदि तुम आत्मा और परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिये साधना के क्षेत्र मे उतरना चाहते हो तो सम्यग् रूप से अहिंसा का ज्ञान करो, सत्य का ज्ञान करो, अचौर्य वृत्ति तथा ब्रह्मचर्य का ज्ञान करो और अपरिग्रह वृत्ति का विज्ञान लो । ऐसा विज्ञान परतन्त्रता से दबी हुई आत्म-शक्तियो को प्रकट करने वाला होता—है आत्मा की उपाधियों को हटा कर निज-स्वरूप की प्रतीति की तरफ ले जाने वाला होता है । इसके विपरीत जिसे सिर्फ अशुद्ध उपाधियों का ही ज्ञान है,

वह कभी भी सच्ची साधना का मार्ग नहीं पकड़ सकता है एवं अन्ततो गत्वा उसको अपने उस जीवन पर पश्चाताप करना पड़ता है और दुःखी बनना पड़ता है।

मगध सम्राट श्रेणिक भी जो इतिहास में बिम्बसार के नाम से विख्यात हैं, प्रारंभ में अशुद्ध उपाधियों में उलझे रह कर दुःख प्राप्त करते रहे। जहां धार्मिक क्षेत्र की चर्चा चलती अथवा साधना के विषय पर विचार विमर्श होता तो श्रेणिक विपरीत भावना से ही सोचते। जिस धर्मपत्नी के साथ उनका सम्बन्ध हुआ वह महारानी चेलना आध्यात्मिक विज्ञान की विज्ञाता तथा धर्म-शीला नारी थी। आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये कौनसी साधना सही है, इसमें कौन कौनसी उपाधियां बाधक रूप होती हैं तथा किन-किन उपाधियों को कैसे समझना और उनका कैसे परित्याग करना-इसका विज्ञान महारानी चेलना को था। यद्यपि वह गृहस्थाश्रम में रहने वाली महिला थी, लेकिन वह आध्यात्मिकता को अच्छी तरह समझने वाली थी। वह घरेलू कार्यों में भी विवेक का दीपक प्रदीप्त रखती थी तो आत्मिक तत्वों को भी भलीभांति समझती थी। सर्वत्र उसका विवेक जागृत रहता था। आज की बहिनें अपने घर के कार्यों में और धर्म कार्यों में किस प्रकार का विवेक रखती हैं—यह उनके सोचने का विषय है।

उस महारानी चेलना ने आगे बढ़कर महाराजा श्रेणिक को सावधान किया कि आपका ज्ञान अधूरा है। आप मेरे पतिदेव हैं। या तो आप मुझे बारीकी से आध्यात्मिक ज्ञान बताइये—साधना का मार्ग सुझाइये या फिर आप मुझसे सीखिये और जो मैं सिखाऊंगी वह मेरा ज्ञान नहीं है, महावीर प्रभु का ज्ञान है। मैं उनकी पक्की शिष्या हूं, इसलिये मेरा कर्त्तव्य है कि मैं वह ज्ञान अपने परिवार जनों को भी कराऊं। महाराज को पहले पहल तो बुरा लगा, फिर दोनों के बीच में लम्बा संवाद चला कि आत्मा की स्वतन्त्रता के लिये कौनसा ज्ञान आवश्यक है?

आध्यात्मिक जीवन की साधना की ओर बढ़ने के लिये यह जानना जरूरी है कि आत्मा की स्वतन्त्रता के लिये कौनसा ज्ञान आवश्यक है? आप यह न सोचें कि धर्मस्थान पर व्याख्यान श्रवण कर लिया और यथा शक्ति तपस्या कर ली तो आध्यात्मिक साधना की पूर्ति हो गई। यह साधना यहां भी करें, घर पर भी करें तथा जीवन के चौबीसों घंटे इस साधना में तल्लीन बनें। यह धर्मस्थान तो आध्यात्मिक पाठशाला है जिसमें भर्ती होकर ज्ञान सीखें, और विधि सीखें, फिर उसका प्रयोग अपने सम्पूर्ण जीवन में करें। एक छात्र स्कूल

में गणित सीखता है तो वह उस गणित का प्रयोग स्कूल में करता है अथवा व्यापार मे करता है—कहाँ करता है ? क्या वह यह समझता है कि यह विषय स्कूल का है और घर पर जाने के बाद कोई पूछे कि पाच और पाच कितने होते हैं तो वह बता नहीं सकेगा ? अगर स्कूल मे वह इस जोड का नतीजा दस बतावे और घर पर आकर बारह कहने लगे तो उस छात्र को आप क्या कहेंगे? वैसी ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे साधना की बात है। यहा सीखें कि आत्मा की स्वतन्त्रता के लिये कौनसा ज्ञान आवश्यक है, फिर उस ज्ञान की आराधना घर पर करें और उसका प्रयोग जीवन मे करें।

आत्म–दर्शन में विवेक की भूमिका :

आप यदि आत्मा से साक्षात्कार करने की भावना रखते हैं और परमात्मा के दर्शन करके परम आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं तो सोचिये कि यह कब हो सकेगा ? ऐसा तब ही हो सकेगा; जब आप साधना क्षेत्र में गति करेंगे और साधना मे गति तब ही होगी जब आप साधना का विज्ञान सीख लेंगे। यह सीखना विवेक से होगा—स्वतन्त्रता के भावों से होगा, क्योंकि स्वतंत्र आत्मा का विवेक सतत जागृत रहता है।

चाहे आप बाहर हों या घर मे हों—अपने जीवन मे समग्र रूप से प्रत्येक वस्तु को विवेक के साथ देखें कि कहां क्या हो रहा है और कैसे होना चाहिये ? यदि इसकी तरफ ख्याल नहीं गया और यह सोचते रहे कि जो कुछ होना है, वह नौकर चाकरो के हाथों होता रहेगा तो ध्यान रखिये वर्तमान जीवन मे ही चक्कर पड जायगा—आध्यात्मिक जीवन तो दूर रहा। जोधपुर का एक प्रसंग स्व. आचार्य देव फरमाया करते थे कि वहां पर एक योग्य आफिसर थे जो आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से शून्य थे। दुनिया कहती थी कि वे बड़े विद्वान् हैं, क्योंकि सभी तरह की बडी–बड़ी बातें कर लिया करते थे। आत्मा की बात सार्थक कब होती है, परमात्म–स्वरूप के मार्ग पर कैसे आगे बढ़ा जाता है और जीवन का अनुसंधान कैसे किया जा सकता है—इसका व्यावहारिक ज्ञान उनको नहीं था। लोगों ने उनसे कहा—आप सन्त महात्माओं के पास चलें ताकि आध्यात्मिक ज्ञान का व्यावहारिक पहलू समझ मे आवेगा। तो वे बोले—वहां चलने पर त्याग करने के लिये कहेंगे और मुझसे त्याग होता नहीं है। लोगो ने समझाया—आपकी इच्छा हो तो करें।

मेरा ख्याल है उस समय आचार्य श्री श्रीलाल जी म. सा. विराज रहे थे। एक श्रावक ने सूचना दी कि अमुक बड़े आफिसर आ रहे हैं—आप

त्याग लेने को न कहें। आचार्य श्री हंसे—हमारे पास तो यही व्यापार है। ग्राहक दुकान पर आवे और व्यापारी माल नहीं बतावे—यह कैसे चल सकता है। ग्राहक ले या न ले—यह उसकी इच्छा की बात है।

वे प्रोफिसर अपने मित्र के साथ व्याख्यान में पहुंचे। आध्यात्मिक जीवन एवं ज्ञान सम्बन्धी चर्चा चली। व्याख्यान समाप्त होने पर मित्र ने आचार्य श्री से उनका परिचय कराया, तब आचार्य श्री ने पूछा-प्रोफिसर साहब, क्या आप त्याग से बहुत डरते हैं? उन्होंने उत्तर दिया-हां महाराज, मैं त्याग नहीं कर सकता हूं। तब आचार्य श्री ने कहा—घबराइये मत। आप पत्थर तो नहीं खाते होंगे? तो जिस वस्तु को आप नहीं खाते हो, उसका तो त्याग करादूं? प्रोफिसर ने देखा कि कोई उलझन की बात है। उन्होंने झट से पत्थर खाने का त्याग कर लिया। आचार्य श्री ने सावधान किया-देखिये, यह त्याग कहीं टूट नहीं जाय? आप पत्थर जानबूझकर तो नहीं खायेंगे लेकिन भोजन में न खा लें—इसका ध्यान रखें। घर जाकर उन्होने अपनी पत्नी से कहा—आज तो पकड में आ गये—महाराज से पत्थर खाने का त्याग ले लिया है सो अब बीनने चुगने का काम नौकरों के भरोसे नहीं चलेगा। आप ध्यान रखें-खाने की किसी चीज में कंकर नहीं आना चाहिये। त्याग लिया है तो टूटे नहीं।

अब उनकी पत्नी स्वयं रसोई में सारा काम देखने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने भोजन में कंकर पत्थर ही नही, लटें और इलियां खाने से भी बच गये। तब उनको समझ में आया कि त्याग का व्यावहारिक पहलू भी कितना ऊंचा है? मैं संकेत देता हूं कि आप भी इस प्रकार का कार्यक्रम लेकर चलें—धर्मपत्नियों को सावधानी दिलादें कि पत्थर नहीं खाना है। फिर उनका विवेक जाग जायगा तो प्रत्येक कार्य मे उनका विवेक जाग्रत बना रहेगा।

रसोई का विवेक बहुत महत्वपूर्ण होता है। जरा-सी असावधानी में कई जीवों की घात हो जाती है और स्वास्थ्य की भी हानि होती है। हर चीज देख भाल कर काम मे लेनी चाहिये। यह नहीं कि आंख बन्द करके जीरा बघार में डाल दिया और उसमें चींटियां थीं तो वे भी जल कर दाल में मिल गईं। पानी छानने का भी खास विवेक होना चाहिये। कभी नातने में पानी के छोटे-छोटे जन्तुओं को देखें तो पता चले। कैसा भी पानी गट-गट पी गये—ऐसा नहीं होना चाहिये। कीटाणु रहित जल का उपयोग करना चाहिये। इस सारे विवेक का निर्देश भगवान् महावीर ने पहले ही दे दिया है कि इसके कारण अहिंसा की साधना होगी, आत्मीय भाव मे प्रगाढ़ता आयगी,

साथ ही साथ शरीर का स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा । धर्म की आराधना करने वालों को स्वयं विवेक रखना चाहिये, नौकरों-चाकरों के भरोसे यह काम नहीं छोड़ देना चाहिये ।

अपने काम को दूसरों के भरोसे छोड़ना है—यह परतंत्रता है । परतंत्रता का जीना-जीना नहीं होता है । मनुष्य को स्वाश्रयी और स्वतंत्र होना चाहिये । परतंत्रता के जीवन में कितनी-कितनी उपाधियां होती हैं—इसको ध्यान में लें । स्वतंत्र बनना सीखें और स्वतंत्रता से ही समग्र जीवन को चलावें क्योंकि स्वतंत्र आत्मा सतत जाग्रत रहती है ।

परतंत्रता से छुटकारा दिलाइये :

वीतराग देवों की वाणी को हृदय में उतारें और चिन्तन करें कि अपनी चेतना आत्मा को इन जड़ तत्वों के प्रभाव से कैसे मुक्त करें ? जड़ के साथ आत्मा का जो बंधन है, वह ममता का बंधन है और यह ममता कर्म-बंध का कारण है । ममता या मूर्छा को ही भगवान् ने परिग्रह कहा है मुच्छापरिग्गहो वुत्तो-दशवै. । मूर्छा नहीं है तो विपुल परिग्रह के बीच में बैठ कर भी मनुष्य कीचड़ में कमल की तरह रह सकता है । यह कार्य मुख्य रूप से भावना को नया मोड़ देने का है कि वह ममत्व-बुद्धि को छोड़े और समभाव में रमण करे । इसके लिये मन को मनाना पड़ेगा-आत्मा को उस पर नियंत्रण करना होगा कि वह जड़ तत्वों के प्रति आकृष्ट बन कर न स्वयं दौड़े और न आत्मा व शरीर को उस तरफ धकेले । मन की गति को मोड़ना भी कोई ज्यादा कठिन नहीं है—इसके लिये सही चिन्तन की अपेक्षा है ।

इसके लिये सुन्दरतम अवसर है । कल से पर्युषण पर्व प्रारंभ हो रहा है। क्यों नहीं, कम से कम इन आठ दिनों के लिये आप सब इस आध्यात्मिक पाठशाला में प्रवेश ले लें ? ऐसे तो यहां रोज प्रवेश करते हैं लेकिन पराये बन कर प्रवेश करते हैं—घर जान कर नहीं करते । घर में व्यक्ति प्रवेश करता है तो कैसी पोशाक पहिनता है ? आप जानते हैं कि जवाई की पोशाक घर में नहीं पहिनते हैं । बहिनें भी इधर-उधर जाती हैं तो अलग-अलग पोशाकें पहिनती हैं लेकिन आध्यात्मिक जीवन के घर की पोशाक कितनी सादी होनी चाहिये-यह सब जानते हैं । आप सभी आठ रोज तक आध्यात्मिक जीवन में घर के सदस्य बन जांय और ऐसी श्रेष्ठ साधना करें कि वह स्मरणीय बन जाय ।

परम्परा से भी इन आठ दिनों में आप व्यापार और काम-काज बन्द

रखते हैं—उसका भी ख्याल रखें तथा सावचेत रहें कि इन आठ दिनों की साधना से घर का कोई सदस्य वंचित नहीं रहे । चाहे बच्चा हो—बूढ़ा हो, इसमें अवश्य सम्मिलित होवें। मेरा संकेत है कि भगवान् महावीर के द्वारा बताये हुए पर्व पर्युषण के प्रति कोई भी उदासीन नहीं रहे। विवेकशील लोगों को सोचना है कि इस विशिष्ट अवसर पर तो धर्म कार्यों में अपूर्व उमंग होनी ही चाहिये। आप जानते हैं—मैं केवल संकेत देता हूं और सोचता हूं कि बुद्धिमान को इशारा ही बहुत होता है। जो इशारे को समझ कर बिना कहे कार्य कर लेता है, वह विवेकशील कहा जाता है । और सबसे बड़ा विवेक तो यह है कि आप अपने निज-स्वरूप की समीक्षा करें और जानकर खेद मनावें कि आप की आत्मा कितनी परतन्त्र है ? जो वह नहीं चाहती उसे यह शरीर, मन और इन्द्रियां करने को मजबूर कर देती हैं और जो वह करना चाहती है, उसको जड़ तत्त्वों में व्यामोहित बना मन करने नहीं देता है । यह कितनी लज्जाजनक परतन्त्रता है ? यह आवश्यक है कि इस परतन्त्रता की लज्जा को आप महसूस करें और बाहरी तत्त्वों की परतन्त्रता से इस आत्मा को छुटकारा दिलावें ।

जड़ तत्त्वों के प्रति आत्मा की मोहावस्था उसकी सबसे बड़ी परतन्त्रता है तो उसकी सबसे बड़ी विकृति भी है। विकार नहीं छूटता है तब तक विकार आत्मा को विकारों में ही फसाए रखता है, इसलिये यह सत्य हृदयंगम कर लीजिये कि एक स्वच्छ आत्मा ही स्वतन्त्र बन सकेगी और अशुद्ध आत्मा परतन्त्रता की बेडियों में ही जकड़ी हुई रहेगी क्योंकि जो अशुद्धता है, वही आत्मा को सब ओर से बांधती है ।

अपनी आत्मा को यदि स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं तो पहले उसके स्वरूप को स्वच्छ बनाइये । अभी पर्युषण पर्व मे उसके मैल को धो लेने का अच्छा प्रसंग है—इसको खोयें नहीं । अभी अपनी आत्मा को स्वच्छ एवं स्वतन्त्र बनाने की ललक हर छोटे-बड़े मे जागनी चाहिये और सब को आत्म-साधना में इस समय निमग्न होना चाहिये । याद रखें जो अपनी आत्मा को स्वतन्त्र नहीं बना सकता है, वह जीवन मे कोई भी सफलता साध नही सकता है ।



वैयावृत्य तप

सुमति चरण रज, आतम अर्पणा; दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी ।
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार; सुज्ञानी ॥

इस मानव जीवन की पवित्र सरिता मे अवगाहन करने का सुन्दरतम प्रसंग उपस्थित है । देखने की दृष्टि से इस शरीर पिंड के आकार का कुछ माप कर लेते हैं, लेकिन यह शरीर पिंड एक विराट् शक्ति का केन्द्र है । इसमें अमूल्य निधि छिपी हुई है, जिसका अजस्र प्रवाह प्रतिक्षण प्रवाहित हो रहा है इस बहते हुए जीवन प्रवाह को सरिता की सज्ञा दे सकते हैं ।

आपको ज्ञात है कि जहाँ द्रव्य सरिताएं गगा यमुना आदि नदियाँ बहती हैं, उन नदियों के दोनो ओर हरियाली छा जाती है और इस हरियाली तथा जल के प्रभाव से प्राणी के मन मष्तिष्क मे शीतलता व्याप्त होती है । विविध शक्तियों का सृजन तथा विविध वस्तुओ का उत्पादन इन द्रव्य सरिताओ के जल प्रवाह से होता है । जब द्रव्य सरिताओं के प्रवाह का भी ऐसा सुखद प्रभाव होता है तो इस जीवन–सरिता का प्रवाह यदि सुव्यवस्थित हो तो कल्पना करें कि उसका सुप्रभाव कितना व्यापक और विस्तृत हो सकता है ?

इस जीवन सरिता की सृजन–शक्ति का आकलन किन कार्यों से किया जाय ? वस्तुत: इस के प्रभाव क्षेत्र में चन्द कार्य या शक्तियाँ ही क्रियान्वित नहीं होती हैं, बल्कि विशाल दृष्टि से देखें तो इस जीवन में विविध प्रकार की अनन्त विधाओ का समावेश है । इस जीवन सरिता का स्रोत जिधर भी मोड़ने का प्रसग आता है, उधर ही मानव के जीवन मे एक विशिष्ट शक्ति प्रसारित हो जाती है । इसका मोड यदि सेवा की दृष्टि से प्रवाहित हो जाय तो विश्व

का वर्णित उपकार भी किया जा सकता है। सेवा के क्षेत्र में भी संघ सेवा को एक विशिष्ट महत्व दिया गया है तथा इसको वैयावृत्य तप की संज्ञा दी गई है।

सेवा का स्वरूप :

वैयावृत्य तप की दृष्टि से जब भगवान् महावीर से प्रश्न किया गया कि—

'वैयावच्चेणं भंते, जीवे किं जणयई ?

अर्थात् वैयावृत्य से हे भगवन्, इस जीव को किस विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति होती है ? तो भगवान् ने उत्तर दिया—

'वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्त कम्म निबधई।'

अर्थात् वैयावृत्य में उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो सर्वोत्तम पुण्य प्रकृति तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बंधन होता है।

इस दृष्टि से यह विचारणीय वस्तु विषय है कि चतुर्विध संघ की सेवा प्रसंग कितना अधिक महत्वपूर्ण होता है ? अतः संघ सेवा का सही मूल्यांकन प्रत्येक भव्य प्राणी को करना चाहिये। अपने-अपने स्थान पर रहते हुए एवं अपनी-अपनी मर्यादाओं का समुचित रीति से वहन करते हुए चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य को अपने संघ सेवा के कर्त्तव्यों के प्रति विशेष रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता होती है।

भगवान् महावीर का यह निर्देश-वीतराग देव की यह अमूल्य वाणी संसार के सभी भव्य प्राणियों के लिये हितावह है। इस उपदेश का सम वितरण करना-उसको जन-जन तक पहुंचाना-यह भी इस शासन की सेवा का प्रसंग है। चतुर्विध संघ में साधु और साध्वी-ये दोनों अंग अपने विराट् जीवन मूल्यों को लेकर विश्व जनीन व्यापक दृष्टिकोण का वहन कर रहे हैं अर्थात् इन्होंने समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझा है, तीन करण व तीन योग से स्थूल एवं सूक्ष्म हिंसा का परित्याग किया है तथा पांच महाव्रतों को अंगीकार करके वे उनका ईमानदारी से पालन कर रहे हैं। ऐसे सन्त और सती वर्ग की स्थिति का एक अनुपम आदर्श इस विश्व के सामने है।

सन्त और सती वर्ग अपने इन आदर्शों, सङ्कल्पों तथा प्रतिज्ञाओं को सुरक्षित रखते हुए अपने से जितनी चतुर्विध संघ की, वीतराग देवों की वाणी की और प्रभु महावीर के शासन की सेवा बनती है उस सेवा में वे तत्परता रखते हैं। तीर्थंकरों

की अनन्त परम्परा का अनूठा आदर्श उपस्थित करना—यह उनकी विशिष्ट सेवा है। यदि सन्त और सती वर्ग इस विशिष्ट सेवा को विस्मृत करके अपनी मर्यादाओं का ध्यान नहीं रखें और सिर्फ प्रचार और प्रसार में ही लगने की चेष्टा रखें तो इस रूप में शासन निष्ठा की दृष्टि से सेवा नहीं होगी बल्कि एक दृष्टि से असेवा होगी।

जिन तीर्थंकरो ने—जिन विशिष्ट महापुरुषों ने, अपने समग्र जीवन को त्याग के विराट् रूप में परिणित करके जो अद्वितीय आदर्श उपस्थित किया; उन तीर्थंकरो की परम्परा का—निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रधान रूप से सन्त और सती वर्ग पर आता है और यदि सन्त एवं सती वर्ग ही उन आदर्शों को—परम्पराओं को और श्रमण संस्कृति को ओझल करके उस विराटता से नीचे उतरते हैं और सीमित हिंसा आदि से आबद्ध गृहस्थ की सीमा पर आ जाते हैं तो यह तीर्थंकरो की परम्परा के स्वरूप को विस्मृत करने का कार्य कहलायगा। ऐसी विस्मृति की अवस्था में भावी पीढ़ी तीर्थंकरो के उस त्याग मार्ग को भली प्रकार नहीं समझ सकेगी। वह सोच सकती है कि अनन्त तीर्थंकरो की परम्परा के अनुसार प्रचार और प्रसार के लिये हिंसादि कार्य कर सकते हैं। प्रचार और प्रसार के लिये हिंसक साधनों को उपयोग में ला सकते हैं। बिजली के बल्बों और पंखो के नीचे अन्य साज सज्जाओं के साथ बैठकर महारम्भ अस्त्रो को भी अपना सकते हैं। यह रूप यदि भावी पीढ़ी के जन मानस में आ गया अथवा नहीं भी आया पर जो संत सती वर्ग हिंसाकारी साधनों में प्रचार—प्रसार आदि के नाम से अपना सहकार दे रहे हैं यह अनन्त तीर्थंकरों की बहुत बड़ी अवज्ञा की स्थिति है और इस प्रकार उनकी सेवा के बदले असेवा का ही प्रसंग उपस्थित होता है। सन्त जीवन में आधुनिक युग में पनप रही ऐसी प्रवृत्तियां अवश्य ही इस दृष्टि से विचारणीय हैं।

संघ सेवा और साधु मर्यादा :

सन्त—सती वर्ग की अपनी संयम—मर्यादाएं होती हैं तथा श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का मूल भार उन पर होता है। इसके अलावा ये साधु और साध्वियां तीर्थंकरों की परम्परा के जीवन्त दीपक होते हैं, जिन्हें सामने देखकर उस परम्परा का सहज अनुमान होता है। इसलिये सन्त और सती वर्ग के द्वारा संघ सेवा का मार्ग उनकी अपनी संयम मर्यादाओं के अनुरूप निर्मल रहना चाहिये। इस दृष्टिकोण से स्वर्गीय युगद्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. ने अपने पूर्व के व्याख्यानों में इस प्रश्न का विस्तार से उल्लेख किया था एवं अपना

यह विचार प्रकट किया था कि संत और सती वर्ग को अपनी विराट् मर्यादाओं में रहते हुए ही प्रचार और प्रसार करना है, अपनी मर्यादाओं को तोड़कर प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भाग लेना सन्त सती वर्ग के लिए योग्य नहीं है।

उन महापुरुष की एक अनूठी सूझ थी कि प्रचार-प्रसार के कार्य में श्रावक-श्राविका वर्ग को कुछ अधिक त्याग का परिचय देना चाहिये। पारिवारिक स्थिति से उनको अपनी व्यवस्था करनी होती है। यह भी उनका एक कर्त्तव्य है लेकिन उनमें से कुछ को घर परिवार का मोह छोड़ कर प्रचार-प्रसार के प्रति समर्पित हो जाना चाहिये। उनका सुझाव था कि सन्त वर्ग और गृहस्थ वर्ग के बीच का यह एक मध्यम वर्ग हो जो इस प्रचार कार्य के प्रति समर्पित हो जावे। इस योजना का उन्होंने नाम दिया-वीरसंघ योजना। उनका मानना था कि यह मध्यम वर्ग अपने जीवन का कुछ लक्ष्य निर्धारित करे और प्रचार व प्रसार के साधनों के लिए अपनी अवस्था से यथायोग्य नियम निर्धारण करके चले तो यह मध्यम वर्ग गृहस्थ वर्ग से समुन्नत चारित्र्य वाला होगा और प्रभावशाली भी होगा यथा निःस्वार्थपूर्ण भावना के कारण प्रचार-प्रसार का ठोस कार्य कर सकेगा। सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि सन्त सती वर्ग के द्वारा संघ सेवा का मार्ग निर्मल बना हुआ रह जायगा।

वीरसंघ योजना के महत्व पर गहराई से अब विचार हो रहा है तथा उसे कार्यान्वित करने के उपाय सोचे जा रहे हैं। यदि ऐसा मध्यम वर्ग बन जाता है और वह प्रचार-प्रसार के कार्य को अपने हाथ में ले लेता है तो सन्त जीवन भी सरलता के साथ अनन्त तीर्थंकरों की सेवा करता हुआ निर्ग्रन्थ संस्कृति की परम्परा को सुरक्षित रख सकेगा। गृहस्थ अवस्था में रहने वाले कुछ जन, जिनका परिवार की दृष्टि से कोई विशेष बन्धन नहीं है, उनको इस मध्यम वर्ग में सम्मिलित होना चाहिये तथा उनको संघ सेवा का बीड़ा उठाकर वैयावृत्य तप के अधिकारी बनना योग्य रहता है। पारिवारिक जीवन से निवृत्ति की अवस्था में साधु जीवन ही अंगीकार करें, वह श्रेष्ठ है लेकिन यदि इतनी तैयारी नहीं हो तो इस मध्यम वर्ग में प्रविष्ठ होकर इस अपूर्व महत्वपूर्ण कार्य को अधिक से अधिक व्यापक रूप से समाहित करने के लिये अपना बहुमूल्य योगदान देने से वंचित नहीं रहना चाहिये।

श्रावक वर्ग की भूमिका :

ऐसे प्रचारक मध्यम वर्ग की आवश्यकता को दृष्टि में रखतेहुए वीर-

इंध योजना पर समय-समय पर विचार विमर्श होता है और इस योजना को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध मे जागरूकता भी दिखाई दे रही है। कुछ और विशिष्ट श्रावक गण इस योजना को अमल में लाने के बारे मे तत्पर बन रहे हैं। साधुमार्गी जैन श्रावक सघ के अध्यक्ष श्री गुमानमल जी चोरड़िया और उनके नेतृत्व में चलने वाले कुछ श्रावक इस योजना के कार्यान्वय की तैयारी कर रहे हैं। भूतकालीन दृष्टि से तथा भविष्य की पवित्रता का ख्याल रखते हुए यदि वर्तमान मे ऐसी योजना कार्यान्वय मे आ जाती है तो इसे एक महान उपलब्धि की संज्ञा दी जा सकती है।

कभी-कभी चिन्तन के क्षणों मे ऐसा भी कुछ उभर कर आता है कि शान्त-क्रान्ति के जन्म दाता स्व आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा के मुखारविन्द से इस उक्ति का उच्चारण होता था कि सौ सयानो का एक मत होता है; वैसा ही एक मत धीरे-धीरे ही सही-लेकिन इस सघ मे बनता जा रहा है। नम्रता से, कोमलता से, तथा सरलता से सभी अपनी सघ सेवा का योगदान देने के लिये तत्पर बन रहे हैं। चाहे कोई किसी पद पर रहे या नहीं रहे-सघ सेवा की एक सी लगन का निर्माण हो रहा है। दो शब्द हैं—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थ के लिये तो सभी दौड़ते हैं, परन्तु स्वार्थ के पीछे जाकर भी जो परार्थ का ख्याल करते हैं, वह एक विशेष बात कहलाती है। स्वार्थ और परार्थ को अच्छे भाव मे लें तो यह अर्थ भी निकाल सकते हैं कि स्वय की आत्म शुद्धि का स्वार्थ तथा प्रभु महावीर व तीर्थंकरों की इस निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के भव्य रूप को सुरक्षित रखने के लिये प्रचार-प्रसार का परार्थ आत्म-शुद्धि एव आत्म-कल्याण के लिये बहुत बड़ा योगदान है।

लेकिन कभी-कभी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे कुछ मानसिक वृत्तियां कई स्थानों पर कुछ का कुछ रूपक लेकर उभरती हैं। नहीं चाहते हुऐ भी कभी किसी सदस्य के मन मे कदाचित् यह आ जाय कि संघ को अपनी सेवाएं तो देनी है, लेकिन साधारण पद रहते हुए उपयुक्त रूप से सेवा कैसे दी जा सकती है, तो ध्यान रख कर चलें कि पद और सेवा के साथ रहने का कोई प्रसग नहीं होता है। सेवा का सम्बन्ध भावना से होता है और भावना है तो किसी भी पद के माध्यम से या बिना पद के भी भरपूर सेवा दी जा सकती है। साथ ही कभी-कभी मस्तिष्क मे ऐसी अज्ञात तरंग भी उठ सकती है कि जो सेवाएं दी जावें, उनका कोई-न-कोई मूल्यांकन करने वाला भी होना चाहिये। मैं इतना आत्म-योग दू-सब कुछ करूं फिर भी मेरे कार्य को कोई पहिचाने

नहीं-उसकी प्रशंसा करे नहीं तो सेवा का कार्य कैसे किया जाय ? जिस समाज में सेवा को पहिचानने की क्षमता नहीं, उस समाज की सेवा क्यों करें ? ऐसा मानस भी कभी किसी का बन सकता है। लेकिन ऐसे मानस पर गंभीरता से विचार करने का प्रसंग है, क्योंकि जहां सेवा के पीछे सराहना का भाव जुड़ जाता है तो यह कामना की बात हो जाती है तथा ऐसी सेवा से आत्म-शुद्धि का प्रसंग नहीं बनता है। वह तो सेवा नहीं हुई, एक सौदेबाजी या व्यापार हो गया कि मैं सेवा देता हूं, तुम मुझे प्रशंसा दो। सेवा धंधा नहीं है- यह तो आत्म-भोग का रूपक है। सेवा की गहराई से स्वतः ही समाज में जो सराहना होती है—यह दूसरी बात है, लेकिन सेवा करने वाले को सराहना की कामना लेकर के नहीं चलना चाहिये। और संघ की योजना का आधार बिन्दु ही यह है कि प्रशंसा की निष्काम भावना के साथ प्रचार प्रसार का कार्य करते हुए संघ सेवा में समर्पित भाव रहे।

सेवक का आदर्श :

चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य को यह विचार रखना चाहिये कि निग्रंथ श्रमण संस्कृति के भव्य रूप की भली प्रकार सुरक्षा हो जाय-यही उसकी सेवा का सही मूल्यांकन होगा। इसके लिये अपने स्वयं का स्वरूप समझ करके आत्म-शुद्धि का कर्त्तव्य लेकर चलना चाहिये। दुनिया चाहे सत्कार दे या न दे, सेवा का मूल्यांकन करे या न करे अथवा यश कीर्ति गुणगान करे या न करे, लेकिन जो संघ सेवा का कार्य है, वह वैयावृत्य तप है तथा उसका प्रयोजन स्वयं की आत्म-शुद्धि है इस भावना से चलना चाहिये।

संघ सेवा के सम्बन्ध में ऐसी शुद्ध-वृत्ति का निर्माण होने से दोहरा लाभ होता है। आत्म-शुद्धि की दृष्टि से आत्म-भावों में तो पवित्रता आती ही है, लेकिन उसके साथ-साथ सेवक प्रति माता के समान वात्सल्य भावना का भी विकास होता है। जैसे एक माता अपने पुत्र के लिये सब कुछ न्योछावर कर सकती है, लेकिन बदले में लेने की बात नहीं सोचती है। बच्चे की आदत भले ही सब कुछ करने वाली माता में भी भूलें देखने की बन जाय लेकिन माता उस आदत की ओर भी ध्यान नहीं देती और अपनी वात्सल्य भावना में कमी नहीं आने देती है उसी प्रकार सेवा करने वाला अपना आत्म-भोग देकर चलता है। सेवा का कार्य भी अपनी स्थिति से सुचारु रूप से चलाने का प्रयास करता है फिर भी दुनिया अपनी स्थिति से उसकी भूलें देखे तो उस सेवा करने वाले को हताश भी नहीं होना चाहिये और माता की तरह

उन पर वात्सल्य भाव में कमी भी नहीं आने देना चाहिये। राष्ट्रीय क्षेत्र में सेवा का ऐसा उदाहरण आप महात्मा गांधी के जीवन में देख सकते हैं, जिन्होंने कांग्रेस मे कभी कोई पद नहीं लिया बल्कि वे कांग्रेस के चौमन्नी सदस्य भी नहीं थे, लेकिन उनकी सेवा क्या किसी से कम थी ? वर्तमान मे भी सुनते है कि जयप्रकाशनारायण जी किसी पद के लिये खड़े नहीं हुए, लेकिन अपनी स्थिति से वे अपना राजनीतिक योगदान दे रहे हैं। यह एक दृष्टि से रूपक है, इसको सर्वदेशीय न लें। मैं सिर्फ यह बात कहना चाहता हूं कि जो व्यक्ति यश कामना से रहित होकर सेवा कार्य करता है, उसको कोई पद मिले या नहीं मिले–उससे उसकी सेवा मे कोई फर्क नहीं पड़ता है। पद मिलता भी है तो उसकी वह कभी आकांक्षा नहीं करता। यह आकांक्षा ही सारे विवाद की मूल होती है।

मैं कभी सोचता हूं, कभी दूसरों से सुनता हूं और कभी अनुभव होता है कि दुनिया में कई ऐसे लोग भी होंगे जो भीतर की तोड–फोड़ करके हौवा खड़ा करते हैं और लोगों के आपस में माथे फुडाने का धंधा चलाते हैं, लेकिन याद रखिये कि ऐसे व्यक्ति न अपना भला करते हैं और न दूसरो का भला करते हैं। शासन या मानवता की सेवा तो दूर रही वे अपनी भी कुसेवा करते हैं। आग लगाने वाले व्यक्ति और आग बुझाने वाले व्यक्ति भिन्न–भिन्न प्रकृति के होते हैं। भगवती सूत्र मे वर्णन आया है कि भगवान् ने आग लगाने वाले को महाकर्मवाला आदि कहा है। आरंभिक हिंसा की दृष्टि से बुझाने वाले को अल्प कर्म आदि वाला बताया है यथा:—

कालोदाई। तत्थरण जेसे पुरिसे अगणिकायं
उज्जालेइ सेणपुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव
महावेयण तराए चेव। तत्थरणं जेसे पुरिसे
अगणिकाय निव्वावेइ सेरण पुरिसे अप्प
कम्मतराए चेव जाव अप्प वेयण तराए चेव। २१७३.१०

लेकिन उपकार का कार्य करते हुए जो अपनी आत्म-शुद्धि करता है, वह अपार दया का निमित्त बनता है। इस निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति की रक्षा तथा भव्य शासन चतुर्विध सघ की सेवा के कार्य मे ऐसे ही दया–मय जीवन को लेकर चलने की आवश्यकता है ताकि सच्ची सेवा का आदर्श उपस्थित हो सके।

आध्यात्मिक संघ : एकता :

लोग कभी नाम के पीछे कल्पना करते हैं लेकिन नाम तो आता है और चला जाता है। नाम का कोई मूल्य आंकने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् महावीर के शासन की जो दिव्य महिमा है जिसका नेतृत्व आचार्य पद की स्थिति से चलता आ रहा है। पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने समय में क्रांति-कारी कदम उठाये हैं। स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा तथा स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा ने भी क्रान्ति करके एक आचार्य के नेतृत्व का प्रसंग उपस्थित किया, उसको ध्यान में रखते हुए मैं स्वयं सतर्कतापूर्वक चलता हू तथा चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य को भी अपने-अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना है। इसके साथ यह सावधानी भी रखनी है कि इस आध्यात्मिक संघ की एकता दृढ़ीभूत बनी रहनी चाहिए। जिससे शासनोन्नति में चार चांद लग सकें।

आध्यात्मिक संघ की एकता में सतर्कता की बात यह है कि कहीं भी संघ का कोई सदस्य किसी तरह की आग लगाने की चेष्टा न करे। यदि कोई निर्दयी इसमें आग लगाता भी हो तो सुज्ञों का कर्त्तव्य है कि उस आग को समाप्त करके भव्य-रूप उपस्थित करें। जो तोड़-फोड़ की नीति में पड़ता है, एकता को छिन्न-भिन्न करता है, आध्यात्मिक संघ की एकता में विभेद करता है उसको कठोरतम प्रायश्चित का प्रसंग आता है। ऐसा प्रसंग इस संघ के प्रांगण में उपस्थित होगा, ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि इस संघ का सिंचन पूर्व में क्रांतिकारी महापुरुषों ने किया है और संघ का प्रत्येक सदस्य जागृत है। भगवान् महावीर और अनन्त तीर्थंकरो के इस धर्म संघ को पूर्व के आचार्यों ने अपने-अपने समय मे विकसित करने का प्रयास किया है। आज भी यदि प्रभु महावीर के शासन की समुचित स्थिति प्राप्त करना चाहें तो आपको इस क्रांतिकारी परम्परा में सुरक्षित मिल सकती है। यह कथन मैं इस परम्परा मे हू इसलिए नहीं कह रहा हू बल्कि तटस्थ भाव से कह रहा हू। कोई भी व्यक्ति तटस्थता की डाल पर बैठकर चिंतन करेगा तो वह समझ जायेगा कि तीर्थंकरों की शुद्ध परम्परा आज भी इस परम्परा मे अक्षुण्ण है। ऐसी स्थिति में यह सबके चिंतन का विषय रहना चाहिये कि इसकी समुन्नति कैसे हो।

जो अनन्य भाव से चतुर्विध संघ की सेवा करता है और बिना किसी आकांक्षा के सेवा करता है, वह अपनी आत्मा को भी गुण गरिमा से संयुक्त बनाता है। जहां उसे अपने में किसी प्रकार का स्खलन प्रतीत होता है तो वह विनयपूर्वक अपनी भूल को सुधार लेता है। यह गुण जब श्रावक वर्ग में दिखाई देता है तो लगता है कि संघ के प्रमुखों में प्रेम और स्नेह की कैसी भव्य सरिता बह रही है, लेकिन यह सरिता यहीं तक सीमित न रह जाए—

प्रत्येक साधारण सदस्य तक भी पहुंचे । यह एकता के कार्य का प्रारंभ है और इस दृष्टि से निरन्तर आगे बढते रहे । यह आध्यात्मिक सघ की एकता जीवन के समग्र उत्थान मे अतीव सहायक सिद्ध होगी ।

संघ सेवा के प्रकार :

संघ सेवा को वैयावृत्य तप माना गया है । इसकी यथाशक्ति विविध प्रकार से सेवा की जा सकती है । कोई संत–सती या श्रावक कहे अथवा नहीं कहे, संघ सेवा सम्बन्धी किसी न किसी शुभ कार्य को अवश्य हाथ में लेकर प्रचार प्रसार के कार्य मे प्रगति करते हुए शासन प्रभावना का भव्य प्रसंग उपस्थित करना चाहिये यह तभी बन सकता है जब सुज्ञजन स्वतः सेवा कार्य करने के लिये तत्पर रहें । जिसको सेवा की भूख है, वह स्वय चलकर आवेगा। रोगी को तन्दुरुस्ती की जैसी भूख होती है, वैसा ही भूख सुज्ञजनों को आत्मशुद्धि की होती है तथा इस आत्म–शुद्धि के लिये सघ सेवा भी एक सशक्त साधना है । वैयावृत्य तप के अनेक रूप हैं उसमे एक रूप यह संघ सेवा का भी है ।

संघ सेवा की दृष्टि से प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ संकल्प लेना चाहिये । वर्ष में चार महीना, तीन महीना, दो महीना जैसी भी शक्ति और सुविधा हो, सघ सेवा के लिये समय देना चाहिये । कम से कम वर्ष में पन्द्रह दिन का समय तो देना ही चाहिये । यदि इतना भी नही बनता है तो एक वर्ष में पर्यूषण महापर्व पर जो आत्म–शुद्धि का प्रसंग आता है, पवित्र सस्कृति का वहन करने वाले सन्त–सती वर्ग हर स्थल पर नही पहुच सकते इससे उन स्थानों के व्यक्ति धर्म लाभ से वचित रह जाते हैं । उनकी भावना भी रहती है कि हमे आठ दिन कोई वीतराग वाणी का श्रवण कराकर पर्वाराधन करावें । ऐसे व्यक्तियों को आठ दिन महापर्व पर्युषण पर धर्म दान के लिए भी तत्पर रहना चाहिये । यह उन क्षेत्रों की जनता के लिये बड़े प्रमोद का विषय हो जाता है । यह सेवा कार्य मध्यम वर्ग (वीर सघ योजना के अनुसार) बड़ी प्राभाविकता से कर सकता है । मैं सोचता हू कि आज अपने आन्तरिक जीवन से जो भाई बहिन स्मृद्ध हैं, बुद्धिवल, मनोवल या ओजस्वी वाणी के धारक हैं, ऐसे व्यक्ति वर्ष मे यदि पन्द्रह दिनो के लिये ससार की स्थिति से बन्धनों को गौण करके सघ सेवा के कार्य में सलग्न हो जायें तब भी काफी उन्नति हो सकती है ।

सस्कार सुधार भी एक प्रकार से सेवा का ही क्षेत्र है। धर्मपाल भाई

जहां धार्मिक संस्कारों के लिये शालायें हैं, वहां यदि छात्र भी ऐसे कई लोग निवृत्ति पूर्वक कुछ न कुछ समय भी देने लगें तो यह पवित्र कार्य नियमित रूप से चल सकता है। कम से कम धर्मपालों के समीप क्षेत्रों में रहने वाले श्रावक-श्राविकाएं को तो कुछ न कुछ संस्कार सुधार का भव्य रूप उपस्थित करना चाहिये।

जैसे राष्ट्रीय स्तर पर श्रमदान के शिविर या अभियान चलते हैं, वैसे ही छात्रों आदि के लिये धर्मदान के अभियान प्रारंभ किये जा सकते हैं जिनके माध्यम से विविध रूप में संघ सेवा सम्पादित हो सकती है।

जीवन प्रवाह का उपयोग :

चतुर्विध संघ का भी जो प्रसंग है, उसमें एक प्रकार से कई जीवन सरिताओं का प्रवाह बह रहा है, उसको संघ सेवा की दृष्टि से सार्थक बनाने का प्रसंग है। जीवन आज है, कल क्या होगा यह कहा नहीं जा सकता। लेकिन उसके माध्यम से संघ में जो समुन्नति लाई जायगी, वह आने वाली पीढ़ियों के लिये भी उपयोगी होगी। नदी का प्रवाह जब तक चल रहा है, तब तक लोग उससे बिजली पैदा कर लेते हैं, खेती का विकास कर लेते हैं और उसके द्वारा अन्य कार्य करके लोगों का निर्वाह-हित पूरा कर लिया जाता है। उसी प्रकार जब तक जीवन सरिता का प्रवाह चल रहा है, तब तक इससे स्व-पर के आत्म-कल्याण के कार्यों को सम्पादन कर लेना चाहिये, वरना जब प्रवाह रुक जायगा, फिर तो कुछ नहीं हो सकेगा।

चतुर्विध संघ के नाते संत-सती वर्ग और श्रावक-श्राविका वर्ग को अपने-अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् रीति से निर्वाह करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि इसमें मेरा कहीं स्खलन तो नहीं हुआ है। किसी अन्य की त्रुटि देखें तो ऐसे विवेक से काम लें कि त्रुटि भी सुधर जाय और सद्भाव बन जाय। संत-सती वर्ग की त्रुटि हो तो मुझे निःसंकोच कहिये—मैं उस ओर अपने कर्त्तव्य को निभाऊंगा। मुख्य बात यही है कि निश्छल भाव से संघ के सेवा माध्यम से आत्मा का सर्वतोमुखी विकास करके अपने जीवन को सार्थक बनावें तथा पवित्र संस्कृति की सुरक्षा के प्रहरी बनें।



जीवन-सरिता सागर तक पहुचेगी

जय, जय, जय भगवान ।
अजर अमर अखिलेश निरजन जयति सिद्ध भगवान् ।

यह प्रार्थना सिद्ध भगवान की है । सिद्ध अवस्था की पवित्रता का उल्लेख करने वाली इन पक्तियो से जीवन मे परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त करने के सकल्प को वल मिलता है । यदि इन पक्तियो मे वर्णित सिद्ध अवस्था का पवित्रतम स्वरूप जन-जन के मन-मस्तिष्क मे भाव रूप मे उतर जाय और अन्त करण मे सदा सर्वदा प्रतिक्षण प्रतिपल आदर्श रूप मे चमकता रहे तो आत्मा की आध्यात्मिक समुन्नति सहज रूप से गतिशील वन जाय । यह गतिशीलता निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के स्वरूप को प्रकाशमान वनायेगी और अन्त-र्चेतना के अपने मूल-स्वरूप को उभार सकने के अपूर्व आनन्द का भी अनुभव करायेगा । इस मगलाचरण का यही उद्देश्य है कि यह आत्मा अपने परम स्वरूप का ध्यान कर सके और उसे प्राप्त करने की दिशा मे प्रगमनशील वन सके ।

अनुभूति की आन्तरिक धाराओ मे प्रवाह पैदा हो :

आधुनिक युग के भौतिक दवावो और उनके द्वारा आये परिवर्तनो के उपरान्त भी आज भारत देश मे जो आध्यात्मिक जीवन का एक अपूर्व प्रवाह प्रवाहित हो रहा है तथा जन-जन की आन्तरिक भावनाए उमडती है—यह इस देश की सस्कृति की एक वहुत वडी विशेपता है । यह सही है कि इस युग के कुप्रभाव मे ये आन्तरिक धाराए काफी अ शो मे छिन्न-भिन्न हो गई है और हो रही है, जिन्हे पुन परस्पर सयुक्त वनाकर सास्कृतिक प्रवाह को

सरिता का रूप देने की आवश्यकता है । यही आवश्यकता व्यक्ति के जीवन में भी आज घटी हुई है । आज व्यक्ति का आन्तरिक जीवन भी शून्य सा हो रहा है क्योंकि बाहर के भौतिक दबावों के कारण उसकी चिन्तन तथा अनुभूति की प्रक्रियाएं शिथिल बन रही हैं ।

व्यक्ति और राष्ट्र व समाज के जीवन मे ये आन्तरिक धाराए सूखी नहीं है—केवल उनका प्रवाह अवरुद्ध है। पहले वैयक्तिक और सामूहिक जीवन की आध्यात्मिकता मिलकर एक सरिता के रूप मे निरन्तर प्रवाहित होती थी जो सिद्ध अवस्था के सागर तक पहुचती थी । उस सरिता मे मिलने वाली धाराएं आज विशृखलित हो गई हैं । इस कारण ऐसा लगता है कि जैसे इस देश की आत्मोन्मुखी सस्कृति लुप्त हो रही हो और सभी लोग भौतिकता के प्रवाह में बह रहे हो । यह केवल आभास है । इस देश के सन्तो के जीवन मे और उनके प्रभाव से धार्मिक क्षेत्र मे आध्यात्मिकता के प्रति अनुराग विद्यमान है। आध्यात्मिकता के ये जल कण इधर—उधर बिखर रहे हैं, जिन्हे सयुक्त बनाकर जीवन सरिता का प्रवाह पुन प्रवाहित किया जा सकता है ।

इसलिये आज की आवश्यकता यही है कि अनुभूति की आन्तरिक धाराओं में प्रवाह पैदा हो । व्यक्ति के जीवन मे भी यह प्रवाह पैदा हो तथा सामाजिक जीवन में भी यह प्रवाह पैदा हो । यह प्रवाह आज किस तरह और कहा अवरुद्ध है तथा इसको किस प्रकार के योगदान से पुन प्रवाहित किया जा सकता है—इस स्थिति का शब्दो के माध्यम से पूरा उल्लेख नही हो सकता । इस स्थिति का मूल्याकन अनुभूति के स्तरों से ही किया जा सकता है।

बूद-बूद से ही प्रवाह बनता है और सागर तक पहुचता है .

प्रवाह की दो प्रकार की अवस्थाएं बन सकती है। कल्पना करें कि उस प्रवाह के बीच में विशाल चट्टाने रास्ता रोककर खडी हो जाती हैं, जिन्हे वह प्रवाह न तोड सके। तो उस प्रवाह की दो तरह की गति बन सकती है। एक तो यह कि उन चट्टानो के बीच में जैसा भी जितना भी अवकाश मिले पानी उसके बीच में से क्षीण धारा के रूप में भी बहता रहे और किसी प्रकार सागर तक पहुच जावे और उसमें मिलकर कृतकृत्य बन जावे। दूसरी गति यह हो सकती है कि पानी एकदम रुक जाय और आगे नही बढ सके तो कही तितर-बितर हो जावे तथा अलग-अलग खड्डो में भर जावे। इससे सरिता की धारा खंडित हो जाती है। पानी यद्यपि सूखता नहीं है लेकिन प्रवाह रुक जाने से विकृत बनने लगता है। उस पानी की विकृति को रोकना तथा पुन उस को एक प्रवाह के रूप में प्रवाहित करना तब एक भगीरथ कार्य हो जाता है।

यह नही है कि प्रवाह में अवरोध पैदा करने वाली चट्टानो को न तोडा जा सके। पुरुष के पुरुषार्थ के सामने ऐसी कोई भी बाधा नही होती जो दूर नही की जा सकती हो। पुरुषार्थ को सक्रिय बनाने के लिये लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिये कि किसी भी प्रकार से वह प्रवाह सागर के अचल में पहुच जाय। यह व्यक्तिगत पुरुषार्थ होता है कि चट्टानो के बीच के खाचो मे से भी थोडा-थोडा पानी रिस-रिस कर आगे बढ़ता जावे और सागर की गोद मे पहुँच जावे। सामूहिक पुरुषार्थ उन चट्टानो को तोडकर पर्याप्त मार्ग बनाने का होता है ताकि प्रवाह एक पुष्ट धारा बन कर सागर तक पहुँचे। पुष्ट धारा वाले प्रवाह में व्यक्ति की गति सहज बन जाती है। अवरोध कोई भी टिक नही सकता है—केवल उसको दूर करने का कठिन संकल्प बन जाना चाहिये।

वैसे ही इस चेतन आत्मा के लिये अपनी आत्मोन्नति का जो मार्ग है, समझिये कि वह सरिता का प्रवाह है। सिद्ध-स्वरूप जो है, वह सागर के मानिन्द है। कोई भी सरिता तभी प्रवाहमय कहलाती है, जब वह सागर तक बहकर उसमें अपने अस्तित्व का विलय कर देती है। इस प्रकार कोई भी आत्मा तभी कृतकृत्य होती है, जब वह सिद्धो का परम स्वरूप प्राप्त करके ज्योति में ज्योति की तरह सदा-सदा के लिये परम आनन्द मे विराजमान हो जाती है। यह जीवन सरिता है, जो अन्तर्भावो की बूद-बूद से प्रवाहमय बनती है और अपनी सतत धारा को सिद्ध-स्वरूप में परिवर्तित करके सागर में समा जाती है।

धर्म शासन का प्रवाह, सिद्धावस्था की ओर गति :

सिद्ध स्वरूप प्रत्येक संसारी आत्मा के लिये एक आदर्श होता है, क्योंकि किसी भी भव्य आत्मा का सर्वोच्च विकास सिद्ध अवस्था की प्राप्ति ही माना गया है। इसलिये इस चेतन आत्मा के लिये सिद्ध-स्वरूप के प्रति जो अन्तर्प्रेरणा बनती है, वह प्रत्येक बच्चे, जवान, बूढ़े भाई और बहिन सबके मन मे मूल रूप से अस्तित्व मे होती है। सभी यदि अन्तःकरण से इस पवित्र धर्म शासन के प्रति निष्ठा रखें और सिद्ध परमात्मा को आदर्श मानकर संयम साधना मे पुरुषार्थ लगावें तो जीवन-सरिता मे अपूर्व प्रवाह प्रारंभ हो सकता है।

धर्म शासन के प्रवाह मे जब आत्मा अपने जीवन-प्रवाह को संयुक्त बना देती है तो उस प्रवाह मे एक नया वेग उभर आता है। वह प्रवाह किसी भी प्रकार की परिस्थिति अथवा बाधा के सामने अवरुद्ध नही होता है—छिन्न-भिन्न नही बनता है। चट्टानो के समान बाधाएं उसको रोके अथवा सूर्य की उग्र किरणो के समान आपदाएं उसको सुखा देना चाहे तब भी वह प्रवाह अपनी अग्रिम गति का मार्ग खोज लेता है, न रुकता है, न सूखता है। आत्मा जब धर्ममय तथा धर्म जब आत्मोन्मुखी हो जाता है तब दोनो के संयोग से जीवन प्रवाह मे पवित्रता भी आती है तो वेग भी उत्पन्न होता है। क्योंकि धर्मात्मा या आत्म-धर्म का एक ही लक्ष्य होता है और वह होता है सिद्ध-अवस्था की उपलब्धि—मोक्ष की प्राप्ति।

जीवन-सरिता के प्रवाह का गंतव्य स्थान यही सिद्ध अवस्था है, जिसे सागर की उपमा दी गई है जहा पहुंच कर आत्मा विराट् मे विराट् बनकर सदा काल के लिये अवस्थित हो जाती है। वैसे तो सिद्ध भगवान् को सागर की उपमा नही दे सकते, बल्कि अनन्त आकाश की भी उपमा नही दे सकते है क्योंकि अनन्त मे भी उनके स्वरूप का पूर्ण समावेश नही होता है। सिद्ध परमात्मा तो अनन्तानन्त आनन्द मे स्थित रहते है। उनका स्वरूप परम पवित्र होता है। प्रत्येक भव्य आत्मा का यह लक्ष्य बनना चाहिये कि वह धर्मशासन के प्रवाह मे अपना जीवन प्रवाह जोड कर सिद्ध स्वरूप का वरण करने के लिये क्षमता के साथ आगे बढ़े। ऐसी भावना, ऐसी लगन और ऐसी संकल्प शक्ति जब जाग्रत होती है, तभी आत्माएं प्रगति करती है तथा धर्मशासन प्रदीप्त होता है।

जीवन के प्रवाह मे आध्यात्मिक स्वस्थता :

जीवन अपनी आन्तरिकता मे जब भली प्रकार स्थित होता है, तभी

पैसे जीवन को स्वस्थ होने की संज्ञा दी जा सकती है। प्रवाहमय जीवन हो—यह आवश्यक है लेकिन उससे भी अधिक आवश्यक यह है कि वह प्रवाह पवित्र हो। जीवन का प्रवाह पवित्र होगा किस रीति से? पवित्रता पैदा करने वाली आध्यात्मिकता होती है। जब जीवन आत्म—सम्मुख होता है, तभी उसमे गहरा चिन्तन, लक्ष्य का सकल्प एव पुरुषार्थ का तेज पैदा होता है, क्योकि जो जीवन आत्मा के अनुशासन मे आता है, वही वास्तविक प्रगति की पहिचान कर पाता है। इसलिये इस जीवन के प्रवाह मे जब आध्यात्मिक स्वस्थता की अवस्था आती है तो वह सागर तक पहुचने का विश्वास भी बधाती है।

यहा इस वर्षावास मे भी आप सबके प्रत्यक्ष अनुभव मे आया होगा कि यह कितना कुछ प्रसग आध्यात्मिक जीवन मे उपस्थित हो रहा है। इस त्रिवेणी सगम मे कितने समय तक रहने का प्रसग आया या इस त्रिवेणी सगम मे सन्त और सतियो को कितने समय तक एक आध्यात्मिक गति से रहने का सौभाग्य मिला—यू कहू तो भी चल सकता है। यहा के जन—मानस मे जो पवित्र भावो का एक आकर्षण है, वह जन—जन के मन को अपनी ओर खीचता था। यह आकर्षण उनके हृदयो मे वीतराग देवो की पवित्र प्रेरणा देने वाला बनता जा रहा है। मै भी यहा पर रहता हुआ जिस स्वास्थ्य की दृष्टि से सोचता हू, तो मेरे दोनो स्वास्थ्य ठीक होते जा रहे है। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ—साथ आध्यात्मिक स्वस्थता भी ठीक हुई है और शारीरिक स्वास्थ्य की चिकित्सा भी सच पूछे तो इसी आध्यात्मिक स्वस्थता के लिये आवश्यक है। इस त्रिवेणी और इस प्रान्त के जन—मानस की भावनाओ का जो प्रवाह मेरे स्वास्थ्य को विकसित करने मे लगा, उन शुभ भावनाओ के बल से, चिकित्सा के निमित्त से तथा सन्त और सती वर्ग की भावना से जो कुछ भी प्रसग बना है, उस प्रसग से मैं दोनो दृष्टियो से अपने आपको स्वस्थ अनुभव कर रहा हू।

यह ध्यान मे रखिये कि किसी भी प्रगतिशील एव प्रवाहमय जीवन के लिये आध्यात्मिक स्वस्थता एक अनिवार्य स्थिति है और बाकी जो कुछ करना होता है वह इसी आध्यात्मिक स्वस्थता के लिये। आध्यात्मिकता से ओत—प्रोत जीवन सरिता एक न एक दिन सिद्ध अवस्था के सागर मे अपने आपको अवश्य ही तिरोहित कर देती है।

आध्यात्मिक स्वस्थता आती है जीवन की पवित्रता से :

यह आध्यात्मिक स्वस्थता प्रति दिन के जीवन की पवित्र चर्याओ से

जाती है। प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति में यह सतर्कता बनी रहनी चाहिये कि किसी भी निमित्त से जीवन प्रवाह में कोई विकार आकर न मिल जाय। यदि कोई अनिवार्य प्रक्रिया ऐसी भी होती है जिसके कारण पवित्रता को कोई दोष लगता हो तो प्रायश्चित की विधि से उस का शोधन कर लेना चाहिये। विकार न आवे, यह परम श्रेष्ठ है, लेकिन ऐसा कोई प्रसंग आ भी जाय तो प्रायश्चित के माध्यम से उस विकार को दूर कर देना चाहिये, जिसका प्रावधान शास्त्रों में आया है।

मेरे अपने शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक करने की दृष्टि से भी जो कुछ भी अपवाद मार्ग को अपनाने का प्रसंग आया हो, उसके विषय में मैंने इस प्रान्त के केन्द्र स्थल बीकानेर के सेठिया भवन में कुछ संकेत दिया था और इस स्थल पर भी पुनरावृत्ति के रूप में संकेत कर रहा हूं कि इस काल में रहते समय चिकित्सा के निमित्त से जो कुछ भी दोष की स्थिति का प्रसंग आया, उसका परिमार्जन मैं उस वर्ष के इसी स्थल पर करने की सोच रहा था लेकिन प्रमुख हितैषियों का यह कहना रहा कि आप प्रायश्चित तो करेंगे ही—इसमें कोई संशय की स्थिति नहीं है लेकिन इतने महीनों तक जब इस स्थिति में रहे तो इस स्थिति को विहार में थोड़ा और परख लें तथा उसके बाद में ही जहां भी इच्छा हो, वहां पर प्रायश्चित कर लें।

उस स्थिति के साथ ही करने की भावना रखता हूं और वह भी इस बंगले के अन्तर्गत क्षेत्र मे ही । यह तो सिर्फ मैं कभी–कभी जानकारी दे देता हूं जिससे श्रावक–श्राविकाओ को यह ज्ञान रहे कि लाचारीवश जो कुछ प्रसंग साधु-जीवन मे बनता है, उसके लिये भगवान् ने प्रायश्चित बताया है ।

भगवान् महावीर केवल ज्ञानी थे, फिर भी वेदनीय कर्मों की दृष्टि से उनको रक्त की दस्तें लगी। इस प्रसग से औषधि सेवन का प्रसग भी आया। वे तो तीर्थंकर थे, पर उनको भी वेदनीय कर्मों ने नहीं छोड़ा, तो उनके शासन मे चलने वाले साधक कैसे छूट सकते हैं ? बीमारी के प्रसंग से साधु जीवन मे औपधि आदि सेवन करनी पडती है और उसमे जो दोष लगता है, उसके निवारण करने का मार्ग भगवान् ने उत्सर्ग और उपवास दोनो प्रकारो से बताया है। उसी मार्ग से दोपो का निवारण किया भी जाता है। मूल प्रश्न यही है कि जीवन की सभी चर्याओ और प्रक्रियाओ मे पवित्रता बनी रहनी चाहिये। इस पवित्रता को बनाये रखने की विधि आत्म–शोधन की विधि होती है जिस का मूल आधार प्रायश्चित कहा गया है। जीवन की पवित्रता बनाये रखने का उद्देश्य होता है आध्यात्मिक स्वस्थता की स्थिति, क्योकि आध्यात्मिक स्वस्थता के प्रभाव से ही जीवन–सरिता का प्रवाह सिद्ध–स्वरूप के सागर तक अबाध गति से पहुच सकता है ।

सर्वोच्च लक्ष्य को दृष्टि में रखें तथा रत्नत्रय की आराधना करें :

यहा का चातुर्मास उठा करके मैं बीकानेर सघ की प्रबल भावना से वहा पहुचा, लेकिन वहा की सुगध लेकर पुन यहा पहुच गया हूं । आप जानते हैं कि पानी कही भी बरसे, उसका प्रवाह ढलान की तरफ ही बढता है । उधर उदरामसर ऊचाई पर है और बीकानेर भी ऊचाई पर है, लेकिन गगाशहर व भीनासर ढलान पर हैं, इसलिये पुन यहा आना हो गया ।

यह त्रिवेणी की भूमि पूर्व महापुरुषों की पवित्र भावनाओ से सिंचित है। इसका कण–कण पवित्रता का दृश्य उपस्थित कर रहा है । आप सभी सर्वोच्च लक्ष्य को दृष्टि मे रखें तथा रत्नत्रय रूप सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र्य की यथाशक्ति स्वय आराधना करें तथा रत्नत्रय के शुद्ध आराधको को अपना सम्बल प्रदान करते हुए अपनी जीवन–सरिता को सागर की ओर आगे बढावें ।